By the Same Author :

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1919-45)
2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (1945-73)
3. बदलती विदेश नीतियाँ
4. यूरोप का इतिहास (1789-1870)
5. यूरोप का इतिहास (1815-1945)
6. यूरोप का इतिहास (1789-1950)
7. यूरोप का इतिहास (1870-1950)
8. आधुनिक विश्व

Price Rs. 8

PUBLISHED BY COLLEGE BOOK DEPOT, JAIPUR
PRINTED AT JEEWAN PRINTERS, JAIPUR

अनुक्रमणिका

यूरोप

[1871–1919]

1. नवयुग का प्रारम्भ
2. जर्मन-साम्राज्य (1871–1919)
3. फ्रांस का तृतीय गणतन्त्र (1871–1914) एवं इंगलैण्ड की विदेश नीति (1871–1914)
4. इटली (1871–1914)
5. रूस एवं रूस की साम्यवादी क्रान्ति (1871–1919)
6. पूर्वी समस्या एवं बर्लिन-व्यवस्था (1871–1914)
7. साम्राज्यवाद एवं औपनिवेशिक विस्तार
8. यूरोप के छोटे-छोटे राज्य (1871–1914)
9. शस्त्रीकरण की होड़
10. प्रथम महायुद्ध (1914–1918)

"विश्वयुद्ध से पूर्व आधुनिक इतिहास की तीन प्रवृत्तियां स्पष्टतः
दृष्टिगोचर हो रही थीं—औद्योगिकवाद, श्रमिक आन्दोलन
और राष्ट्रीय सैनिकवाद।"

—केटेल्बी

"हमारे महान् भूतकाल और उज्ज्वल भविष्य ने हमारे ऊपर भारी
राष्ट्रीय दायित्व डाले हैं जिन्हें हमें अवश्य ही पूरा करना है।
हमारे राष्ट्र की अग्नि-परीक्षा होने जा रही है। हमारी
वीर सेना युद्ध क्षेत्र में है, और हमारा विजयी
जहाजी बेड़ा शत्रु की खोज में बेचैन है तथा
हमारी सारी जर्मन जाति इस वीर
सेना और विजयी जहाजी
बेड़े के पीछे है।"

—बैथमैन हॉलवेग
(जर्मन-चांसलर)

1 नव-युग का आरम्भ

"यूरोप के इतिहास में 1870-71 का वर्ष 19वीं शताब्दी के राजनीतिक इतिहास का चरम बिन्दु है। उस वर्ष 19वीं शताब्दी के विशिष्ट कार्य समाप्त हो गये।"

—मैरियट

यूरोप के इतिहास में 1870-71 का वर्ष अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस वर्ष के साथ यूरोप के इतिहास में एक पुराने युग की समाप्ति और एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है। 19वीं शताब्दी की मुख्य प्रवृत्ति राष्ट्रीयता का सिद्धांत था। इसके वेग को रोकने के लिये 1815 में वियना कांग्रेस ने तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगा दिये थे। किन्तु इन प्रतिबन्धों से यूरोप में राष्ट्रीयता और उदारता का प्रसार रुक न सका। फ्रेंच-क्रांति के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रचार यूरोप भर में होता रहा। इस तरह 1815 के बाद प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी विचारों का जो संघर्ष हुआ, उसमें अन्त में प्रगतिवादी विचारों की जीत हुई। राष्ट्रीयता और उदारवाद ने सफलता हासिल की। यूरोप से निरंकुश शासन का अन्त होने लगा। 1815 से 1871 तक यूरोप में नये राष्ट्रीय राज्य बने और यूरोप का राजनीतिक मानचित्र पूरी तरह बदल गया। 1870-71 में जर्मनी और इटली का राष्ट्रीय एकीकरण सम्पन्न हुआ। आधुनिक यूरोप के निर्माण की प्रक्रिया समाप्ति के निकट पहुँच गई और 19वीं शताब्दी के विशिष्ट कार्य सम्पन्न हो गये।

19वीं शताब्दी के अन्तिम 30 वर्षों में नवीन निर्माण के कार्य नहीं हुए बल्कि क्रमिक उन्नति और संगठन के कार्य होते रहे। इस काल में यूरोपीय राज्यों के वास्तविक राजनीतिक कार्य यूरोप के बाहर के देशों में हुए। दूसरे देशों में यूरोप की वास्तविक राजनीतिक कार्यवाहियां यूरोप के बाहर विश्व-राजनीति के क्षेत्र में हुईं। इसी समय से यूरोपीय कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति में परिणत हो गई। इस प्रकार यूरोप के इतिहास में एक नवीन युग का श्रीगणेश हुआ।

नव-युग की विशेषतायें

इस नवीन युग ने कुछ तो अभिनव विशिष्टताएँ प्रस्तुत की और कुछ प्राचीन विशेषताओं को नया रूप दिया—

1. उग्र राष्ट्रवाद—1871 के बाद यूरोप में राष्ट्रीयता का स्वरूप उग्र और विकृत हो गया। जर्मनी ने आस्ट्रिया और फ्रांस को हराकर यूरोपीय राजनीति में

प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इन विजयों से जर्मन राष्ट्र का गौरव बहुत बढ़ गया। जर्मनी ने उग्र राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसका प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर भी पड़ा। जर्मनी जाति अपनी सभ्यता, संस्कृति, जाति, नस्ल और भाषा को यूरोप भर में श्रेष्ठ समझने लगी। अन्य यूरोपीय जातियों को वह घृणा, अनादर और अवहेलना की दृष्टि से देखने लगे। अन्य यूरोपीय राष्ट्र भी इस छूत के रोग से बच न सके। यूरोप के सभी देश संसार में अपनी श्रेष्ठता कायम करने के लिये उतावले होने लगे। इस तरह राष्ट्रीय चेतना ने विकृत रूप धारण करके उग्र राष्ट्रवाद का बाना पहन लिया। वह स्थिति आगे चलकर प्रथम महायुद्ध का एक महान् कारण बनी।

2. सैनिकवाद—सैनिकवाद उग्र-राष्ट्रवाद का स्वाभाविक परिणाम था। 1870–71 के बाद राष्ट्रों के बीच हथियार–बन्दी की होड़ शुरू हो गई। एक तरह से आधुनिक युग में शस्त्रीकरण का युग इसी समय से शुरू हुआ। यूरोप के इतिहास में 1871 से 1914 के युग को अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता (International Anarchy) का युग कहा जाता है। इस काल में यूरोप के सब राष्ट्र अपने को आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने का जी-तोड़ प्रयास करते रहे। शस्त्रों की अनियन्त्रित दौड़ सभी राष्ट्रों में आरम्भ हो गई। युद्ध एक "आवश्यक बुराई" माना जाने लगा। हथियारबन्दी यूरोप के राजनीतिक जीवन का एक नशा हो गई। हथियार शराब बन गये और यूरोप के राज्य शराबी। इस स्थिति में यूरोप में उस सैनिकवाद का जन्म हुआ जिसके कारण सम्पूर्ण महादेश में अराजकता का वातावरण छा गया। देखते-देखते सम्पूर्ण यूरोप एक सशस्त्र शिविर (Armed Camp) बन गया। यद्यपि 1871 से 1913 तक बाल्कन प्रायद्वीप को छोड़कर कोई युद्ध नहीं हुआ, किन्तु शस्त्रों की दौड़ अनियन्त्रित रूप से जारी रही। इसलिये इस युग को यूरोपीय इतिहास में सशस्त्र-शान्ति का युग (Age of Armed Peace) भी कहा जाता है।

3. उद्योगवाद—इस नवीन युग का एक प्रधान लक्षण उद्योगवाद था। 1871 से 1914 के बीच लगभग सम्पूर्ण यूरोप में औद्योगीकरण बड़े जोर-शोर से हुआ। इससे पश्चिमी यूरोप का कायाकल्प हो गया। विज्ञान की भी प्रत्येक क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। विज्ञानवाद और उद्योगवाद ने आर्थिक राष्ट्रीयता को जन्म दिया। राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों की उन्नत्ति के लिये संरक्षण नीति का अनुकरण किया जाने लगा। यूरोपीय देशों के लिये गैर-यूरोपीय देशों में उपनिवेश कायम करने और नये-नये बाजार खोजने की होड़ लग गई।

4. नवीन साम्राज्यवाद—उद्योगवाद और आर्थिक राष्ट्रवाद ने नवीन साम्राज्यवाद को जन्म दिया जो पुराने साम्राज्यवाद से भिन्न था। पुराना साम्राज्यवाद लगभग 15वीं शताब्दी से चला आ रहा था। यह व्यापारिक पद्धति पर आधारित था। इसका मुख्य उद्देश्य व्यापारिक लाभ था। पुराने साम्राज्यवाद के युग में यूरोपीय देशों ने गैर-यूरोपीय देशों में विशाल-साम्राज्य स्थापित किया।

पर 1775 में अमेरिका के स्वातन्त्र्य-संग्राम से पुराने साम्राज्यवाद को गहरा आघात लगा। पुराना साम्राज्यवाद शिथिल पड़ने लगा। 1871 के बाद कई कारणों से नवीन साम्राज्यवाद का उदय हुआ। इसकी मुख्य विशेषता यह थी कि आर्थिक शोषण के साथ-साथ राजनीतिक शोषण भी किया जाने लगा। 1871 के बाद मुख्य समस्या तैयार माल बेचने और पूंजी लगाने योग्य प्रदेशों को ढूंढने की थी। अतः उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में साम्राज्य की स्थापना की जाने लगी। यूरोप के सभी राज्य ऐसे प्रदेशों की खोज में लग गये। इसका सबसे बुरा शिकार अफ्रीका हुआ। साम्राज्य की स्थापना और विस्तार के लिये साम्राज्यवादी देशों के बीच संघर्ष शुरू हो गया। यह संघर्ष आगे चलकर प्रथम महायुद्ध का एक बड़ा कारण बना।

5. विश्व राजनीति का यूरोपीयकरण--नवीन युग में विश्व राजनीति का यूरोपीयकरण हुआ। नये साम्राज्यवाद के कारण जो राजनीतिक प्रगति हुई, उसका यह स्वाभाविक परिणाम था। 1871 के बाद यूरोपीय साम्राज्यवाद का विस्तार अभूतपूर्व गति से हुआ। अब यूरोपीय राज्यों के झगड़े अधिकांशतः यूरोप के बाहर के मामलों पर होने लगे। गैर-यूरोपीय देशों में घटने वाली राजनीतिक घटनायें अधिकांशतः यूरोपीय राज्यों की राजनीति का परिणाम ही होती थी। इस तरह यूरोप की समस्या विश्व की समस्या बन गई।

राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त गैर-यूरोपीय देशों पर यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति का रंग भी चढ़ने लगा। यूरोप के सम्पर्क से एशिया और अफ्रीका में नये सिद्धांतों और नई प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। आगे चलकर राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, समाजवाद आदि सिद्धांतों का खूब प्रचार हुआ। उपनिवेश अपने न्याय-संगत अधिकारों की प्राप्ति के लिये सचेष्ट हो गये। यह स्थिति अन्त में यूरोपीय साम्राज्यवाद के विघटन का कारण बनी।

6. अन्तर्राष्ट्रीयता - इस नव-युग की एक अन्य विशेषता अन्तर्राष्ट्रीयता थी। यातायात और संदेशवाहन के साधनों के विकास के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रसार हुआ। दूर-दूर के देश यूरोप के निकट सम्पर्क में आ गये। फलस्वरूप राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना बढ़ने लगी। वस्तुतः यह एक विचित्र और परस्पर विरोधी बात थी कि नये-युग में एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष से समूचे विश्व का वातावरण अशान्त हो रहा था और दूसरी ओर जीवन के अनेक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी बढ़ रहा था। 1871 के बाद के युग में तरह-तरह की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित हुईं। अनेक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें बनीं जिनका उद्देश्य मनुष्य के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का संचालन करना था। प्रथम महायुद्ध से पूर्व इन संस्थाओं का उत्थान अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक नये और शुभ लक्षण का प्रतीक था।

7. शान्तिवाद—अन्तर्राष्ट्रीयवाद के साथ-साथ नये युग में शांतिवाद (Pacificism) का भी विकास हुआ। विश्व-शांति स्थापित करने के लिये राष्ट्रों

ने ध्यान देना शुरू किया। वहुत से विवाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और पारस्परिक सन्धियों द्वारा तय किये गये। युद्ध की बर्बरता और क्रूरता को कम करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय समझौते हुए। 1899 के वाद स्विट्जरलैंड के बर्न नामक नगर में अन्तर्राष्ट्रीय शांतिवाद का प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया। इसके वार्षिक अधिवेशन होने लगे। इस युग में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिये स्वीडन के एक धनी व्यक्ति अल्फ्रेड नोवल ने लाखों रुपये के वार्षिक पुरुस्कार की व्यवस्था की।

8. **श्रमिक आन्दोलन और समाजवाद**—इस युग में, औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप श्रमिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। इन आन्दोलनों की अभिव्यक्ति कई प्रकार से हुई। ट्रेड यूनियन आन्दोलन का प्रचार हुआ। सरकारों को श्रमिकों की दशा सुधारने की ओर सक्रिय होना पड़ा। श्रमिकों की दशा में सुधारों के जो प्रयत्न हो रहे थे उनसे वहुतों को असन्तोष था। ऐसे लोगों का कहना था कि वर्तमान राज्यों पर पूंजीपतियों का आधिपत्य है और उनसे यह आशा करना वेकार है कि वे श्रमिकों के हितों पर उचित ध्यान देंगे। श्रमिकों का भला तभी हो सकता है जव पूंजीवाद का अन्त हो जाए और समाज का नये आधार पर निर्माण हो। इस नये समाज में आर्थिक समानता हो, उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो और उत्पादन लाभ की दृष्टि से नहीं वल्कि उपभोग की दृष्टि से हो। समाजवाद को वैज्ञानिक-स्वरूप कार्ल मार्क्स ने प्रदान किया। कालान्तर में समाजवाद की अनेक शाखायें प्रस्फुटित हो गईं। 1871 के वाद मार्क्सवादी आन्दोलन यूरोपीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य वन गया।

इस प्रकार उग्र–राष्ट्रवाद, सैनिकवाद, साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद, शान्तिवाद, श्रमिक आन्दोलन, समाजवाद आदि इस नये–युग के प्रधान लक्षण थे जिनका प्रभाव 1871 के वाद यूरोपीय राजनीति को अत्यधिक जटिल वनाने लगा। इन्हीं के प्रभाव से यूरोप के इतिहास का निर्माण हुआ। इन ऐतिहासिक लक्षणों की उत्पत्ति प्रधानत: जर्मनी से हुई। अत: जर्मनी इस युग में यूरोपीय राजनीति का केन्द्र वन गया। इस युग में ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई जिसका प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप में जर्मनी से सम्वन्ध न रहा हो। 1870 से 1890 तक जर्मनी में विस्मार्क की तूती वोलती रही। यूरोपीय राजनीतिक क्षेत्र में उसकी वही स्थिति थी जो कभी नैपोलियन और मैटरनिख की थी। इसीलिए लगभग 20 वर्षों की इस अवधि को 'विस्मार्क-युग' कहा जाता है। विस्मार्क के वाद यद्यपि जर्मन-साम्राज्य का भार निर्वल हाथों में चला गया, किन्तु जर्मनी का अव भी पहले की तरह ही प्राधान्य वना रहा। वास्तव में प्रथम महायुद्ध से पूर्व, प्रथम महायुद्ध के दौरान और उसके वाद भी यूरोप की कूटनीति मुख्यत: 'जर्मन-समस्या' से ही सम्वन्धित रही। अत: यह उचित होगा कि हम इस नये युग के यूरोपीय इतिहास का अध्ययन जर्मनी से ही शुरू करें।

---

2 जर्मन साम्राज्य

(1871–1914)

प्रशा-फ्रांस युद्ध ने जर्मनी के एकीकरण को पूरा कर दिया। फ्रेंच राजतन्त्र की राजधानी वरसाय में 18 जनवरी, 1871 के दिन जर्मन-साम्राज्य की घोषणा की गई। युद्ध की समाप्ति के बाद तत्काल ही नये राज्य के लिये नवीन विधान स्वीकार कर लिया गया। 16 अप्रेल, 1871 को इस विधान को वास्तविक मान्यता प्रदान की गई। प्रशा का राजा स्वाभाविक रूप से जर्मनी का सम्राट स्वीकार किया गया।

1871 से 1918 तक जर्मनी में 3 सम्राट हुए। विलियम प्रथम ने 1871 से 1888 तक, फ्रेड्रिक तृतीय ने मार्च से जून 1888 तक और विलियम द्वितीय ने 1888 से 1918 तक शासन किया। इस तरह 1871 से प्रथम महायुद्ध के अन्त तक जर्मनी का इतिहास दो भागों में ही मुख्यतः विभाजित रहा—विलियम प्रथम का शासन काल एवम् विलियम द्वितीय का शासन काल। प्रथम काल में जर्मनी का शासक वास्तविक रूप में चांसलर विस्मार्क रहा। उसकी सत्ता और महत्ता असीमित रही। 9 वर्ष के अन्दर प्रशा के राजा को उसने यूरोप का सर्वशक्तिमान सम्राट बना दिया। उसी ने जर्मनी का एकीकरण पूरा किया और 1890 में पद-त्याग कर दिया। विलियम द्वितीय अपने शासन काल में स्वयं देश का सर्वोच्च सत्ताधिकारी रहा।

जर्मन-साम्राज्य का स्वरूप

नवीन जर्मनी एक संघीय साम्राज्य था जिसमें 25 छोटे-बड़े राज्य तथा अल्सास–लोरेन के राजकीय प्रदेश शामिल थे। सभी सदस्य-राज्य स्थानीय शासन में पूर्ण स्वतन्त्र थे, किन्तु अन्य बातों में केन्द्र का प्रभुत्व था। प्रशा साम्राज्य-भर में क्षेत्र और जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा तथा सैन्य-शक्ति में सर्वाधिक प्रबल था, अतः उसका प्राधान्य सम्पूर्ण जर्मनी पर छाया हुआ था।

साम्राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी सम्राट था, किन्तु वह संप्रभुत्व सम्पन्न अधिपति (Sovereign) न होकर जर्मन संघ का केवल अध्यक्ष (President) था। यह व्यवस्था संविधान की ग्यारहवीं धारा के अनुरूप थी। प्रभुसत्ता जर्मनी के सभी

राज्यों में सामूहिक रूप से निहित थी जिसका प्रयोग वे विधान-मण्डल के द्वितीय सदन (साम्राज्य परिषद्) में अपने प्रतिनिधियों द्वारा करते थे। चूंकि सदन में प्रशा की स्थिति बड़ी प्रबल थी, अतः प्रशा का राजा जर्मन सम्राट के विशेषाधिकारों का बहुत ही प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करता था। जर्मन-संघ के अध्यक्ष की हैसियत से उसे तीन प्रकार के अधिकार थे—(1) वह संघ के सदस्य-राज्यों और विदेशी राज्यों के समक्ष साम्राज्य का प्रतिनिधि था, (2) वह साम्राज्य-परिषद् की एक समिति की सहायता से वैदेशिक सम्बन्धों की स्थापना, राजदूतों का स्वागत, उनकी नियुक्ति, युद्ध की घोषणा एवं सन्धि करने का अधिकारी था, तथा (3) उसे विधान–मण्डल के अधिवेशन आमन्त्रित करने, स्थगित करने तथा साम्राज्य-परिषद् की अनुमति से प्रथम सदन (लोक सभा) को भंग करने का अधिकार था। उसे संविधान के प्रतिकूल कार्य करने वाले सदस्य राज्यों को दण्डित करने, साम्राज्यीय कानूनों की घोषणा करने और उन्हें लागू करने का भी अधिकार था।

साम्राज्य का प्रधानमन्त्री चान्सलर (Chancellor) कहलाता था जिसकी नियुक्ति और पदच्युति सम्राट द्वारा होती थी। वह अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति नहीं बल्कि सम्राट के प्रति उत्तरदायी था। सम्पूर्ण राज्य का शासन-संचालन वही करता था। वही एकमात्र संघीय मंत्री होता था। उसकी सहायता के लिए सचिव (Secretaries of State) थे जो विभिन्न विभागों की देख-भाल करते थे। बिस्मार्क प्रथम चान्सलर था। वह लगभग 20 वर्ष तक इस पद पर रहा।

साम्राज्य का विधान-मण्डल द्वि-सदनीय था। प्रथम और निम्न-सदन को 'लोक-सभा' (Reichstag) और द्वितीय तथा उच्च–सदन साम्राज्य-परिषद् (Bundessat) कहलाता था। लोक सभा के 397 सदस्यों का निर्वाचन जनता करती थी। सदस्यों का वितरण विभिन्न राज्यों में जनसंख्या के आधार पर था। यद्यपि इसका स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक था तथापि इसे इंगलैण्ड अथवा फ्रांस की लोक-सभाओं के समान शक्ति प्राप्त नहीं थी। चान्सलर और उसके सचिवों पर सभा का कोई नियन्त्रण नहीं था। साम्राज्य-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति संघ में सम्मिलित राज्यों के राजा करते थे। राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या बराबर नहीं थी। उदाहरणार्थ प्रशा को 17, बवेरिया को 6, सैक्सनी तथा व्युटेम्बर्ग को चार-चार तो अधिकांश राज्यों को एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। ये प्रतिनिधि अपने राजा के आदेशानुसार मतदान करते थे।

साम्राज्य परिषद् के अधिकार लोकसभा से बहुत अधिक थे। विधायी, कार्यकारी और न्यायिक—सभी कार्यों का निर्वाह उसे करना पड़ता था। परिषद् ही कानून का मुख्य स्रोत थी। कोई भी विधेयक उसकी स्वीकृति से ही कानून बन सकता था। अधिकांश विधेयक परिषद् में ही प्रस्तुत किये जाते थे। साम्राज्य के बजट का निश्चय करना उसी का काम था। सम्राट के साथ मिलकर उसे युद्ध की

घोषणा करने और लोकसभा को भंग करने का अधिकार था। सन्धि करने तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा अन्य उच्चाधिकारियों की नियुक्ति में भी इसका हाथ था। वही संविधान में संशोधन करती थी, किन्तु चौदह मत विपक्ष में होने पर संशोधन नहीं हो सकता था। चूंकि अकेले प्रशा को सत्रह मत प्राप्त थे, अतः वह अपने हितों के प्रतिकूल किसी भी संशोधन को सरलता से रद्द कर सकता था। हेजन ने ठीक ही लिखा है कि "लोकसभा की स्थिति एक परमार्शदात्री सभा की थी, अन्यथा वास्तविक सत्ता साम्राज्य परिषद् और प्रशा-राज्य में निहित थी।"

साम्राज्य के लिए न्यायपालिका की व्यवस्था भी थी। 1877 में एक संघीय सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया। वह साम्राज्यीय कानूनों के बारे में राज्य-न्यायालयों के लिए अपील का न्यायालय था, किन्तु उसे संसदीय कानूनों की संवैधानिकता-असंवैधानिकता का निर्णय करने का अधिकार नहीं था।

विलियम प्रथम का शासन काल (1871–1888)

अथवा

चान्सलर बिस्मार्क का कार्य-काल (1871–1890)

1871 से 1888 तक जर्मनी का सम्राट विलियम प्रथम रहा किन्तु वास्तविक सत्ता का स्वामी बिस्मार्क था। वह 1871 से 1890 तक जर्मनी का चान्सलर बना रहा। इस अवधि में वह यूरोप की राजनीति का नायक बना रहा। सम्पूर्ण यूरोप की आंखें उसी की ओर लगी रही।

बिस्मार्क की गृह-नीति

1871 तक बिस्मार्क जर्मनी के एकीकरण का उद्देश्य पूरा कर चुका था पर अभी उसे राष्ट्रीय-निर्माण के अनेक कार्य करने थे। उसके सामने मुख्य काम जर्मनी साम्राज्य को संगठित और सुदृढ़ करना था। बिस्मार्क ने गृह-नीति के क्षेत्र में इसी दृष्टि से विभिन्न कार्य किये। उसे सफलता भी मिली और असफलताओं का भी सामना करना पड़ा, किन्तु वह साहस तथा धैर्य से अपनी नीति पर चलता रहा। उनके कार्यों का विवरण निम्न वर्णन से स्पष्ट होगा :—

(1) साम्राज्य को सुदृढ़ करने के प्रयास—जर्मन साम्राज्य के विभिन्न राज्यों में विभिन्न कानून थे। अनेक प्रकार की मुद्राएं थीं और आवागमन की अनेक बाधायें थीं। इन सब में एकरूपता लाये बिना सच्चे अर्थ में जर्मन-साम्राज्य की स्थापना कठिन थी। अतः बिस्मार्क ने इस दिशा में अनेक कदम उठाये और उसे सफलता भी मिली—

(1) सम्पूर्ण जर्मन साम्राज्य में समान कानूनों का निर्माण किया गया। कानूनी पद्धति भी सर्वत्र समान कर दी गई।

(2) सम्पूर्ण जर्मन साम्राज्य के लिए एक ही प्रकार की मुद्रा "मार्क" की व्यवस्था की गई।

(3) जर्मन साम्राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए एक "इम्पीरियल वैंक" की स्थापना की गई। साम्राज्य के सभी वैंकों को उससे सम्वद्ध किया गया।

(4) एक इम्पीरियल रेल्वे वोर्ड कायम करके समस्त राज्यों की रेलों पर केन्द्रीय अधिकार स्थापित किया गया। तार-डाक आदि सेवाओं के साथ उनके सम्वन्ध जोड़ दिये गये।

(5) सम्पूर्ण जर्मन-साम्राज्य के लिए राष्ट्रीय न्यायालयों की स्थापना की गई।

(6) जर्मन साम्राज्य में सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाने लगी। यह निश्चित किया गया कि साम्राज्य में स्थायी रूप से चार लाख सैनिक रहेंगे।

इन सव कार्यों से विस्मार्क ने केन्द्रीय-सरकार की शक्ति वढ़ाई। उसने साम्राज्य के छोटे वड़े 25 राज्यों को एक ही शासन और एक ही कानून-व्यवस्था के अधीन लाने का प्रयत्न किया।

(2) संस्कृति-विचारक युद्ध कुल्टुर काम्फ (Kultur Kampf)—जर्मनी के राष्ट्रीय संगठन का मार्ग आसान नहीं था। जर्मन साम्राज्य के अनेक शत्रु थे। इनमें सवसे भयंकर रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयायी और समाजवादी लोग थे। इनके संगठन और साहस के सम्मुख विस्मार्क को पराजित होना पड़ा, हालांकि उसने विवेक से काम लेकर स्थिति को सम्भाल लिया।

विस्मार्क की गृह नीति की सवसे प्रसिद्ध घटना संस्कृति विचारक युद्ध अथवा उसका रोमन कैथोलिक चर्च से संघर्ष था। इस संघर्ष का नाम ही "कुल्टुर काम्फ" (Kultur Kampf) है।

कारण—विस्मार्क और रोमन कैथोलिक चर्च के संघर्ष के निम्न कारण थे—

(1) विस्मार्क के राष्ट्रीय एकीकरण के प्रयत्नों से चर्च वड़ा अप्रसन्न था। इनसे उसकी स्वतन्त्रता में वाधा पड़ती थी।

(2) प्रशा का राज्य धर्म प्रोटेस्टैन्ट था। वहां की अधिकांश जनता प्रोटेस्टैन्ट थी लेकिन साम्राज्य के अन्य राज्यों में अधिकांश जनता रोमन कैथोलिक थी। रोमन कैथोलिकों को डर था कि विस्मार्क के प्रयत्न सफल हो गये तो रोमन-कैथोलिक प्रोटेस्टेन्टों के नियन्त्रण में रखे जायेंगे।

(3) रोमन कैथोलिक दल जर्मन साम्राज्य के प्रति भक्ति न रख कर पोप के प्रति भक्ति रखता था और सदा विस्मार्क की नीति का विरोध करता रहता था। उनका चर्च (रोमन कैथोलिक चर्च) आस्ट्रिया का समर्थक और प्रशा का विरोधी। 1866 के युद्ध में भी पोप ने आस्ट्रिया की विजय की प्रार्थना की थी।

(4) रोमन कैथोलिक राज्य को चर्च के अधीन करना चाहते थे जव कि विस्मार्क राज्य की सर्वोच्चसत्ता का पक्षपाती था। राज्य को अधीन करने का अर्थ होता—अव तक किये गये सव कार्यों का विनाश।

(5) 1870 में पोप ने चर्च के मामलों में सरकारी हस्तक्षेप का विरोध किया। उसने पादरियों को आदेश दिया कि सभी विद्यालयों में इसी वात की शिक्षा

दी जाय। जर्मन राष्ट्रीयता के लिए यह स्थिति भयानक थी। आखिर ये विद्यालय ही तो जर्मन राष्ट्रीयता के जन्म-स्थान थे।

(6) कैथोलिक पादरी पोल लोगों में बड़े जोर-शोर से अपना प्रचार कर रहे थे। विस्मार्क इसे सहन नहीं कर सका।

इन सब कारणों से विस्मार्क ने रोमन कैथोलिकों का प्रभाव नष्ट करने का निश्चय किया। राज्य और चर्च का यह संघर्ष लगभग 5 वर्षों तक चलता रहा।

संघर्ष की घटनायें और विस्मार्क द्वारा समझौता करना—1871 के निर्वाचनों में 63 कैथोलिक सदस्य साम्राज्य की लोकसभा में निर्वाचित होकर आये। ये ऐसे व्यक्ति थे जो कि विस्मार्क की नीति का सदैव विरोध करते आ रहे थे। अत: विस्मार्क बड़ा चिन्तित हुआ। उसका सन्देह बढ गया कि कैथोलिक राज्य की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए हैं। 1871 में विस्मार्क ने रोमन कैथोलिकों के दमन करने का कार्य फाक (Falk) नामक व्यक्ति को सौंपा। 1871 में एक कानून बनाया गया। इसके अनुसार धार्मिक संस्थाओं को शिक्षा देने की मनाई कर दी गई, पादरियों द्वारा धर्म वेदी पर राज्य सम्बन्धी भाषण देना निषिद्ध ठहरा दिया गया। साथ ही पोप से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये गये। 1872 से 1876 तक कैथोलिक चर्च की शक्ति नष्ट करने के लिए अनेक कानून बनाये गये जिन्हें "मई कानून" (May Law) या "फाक कानून" (Falk Laws) कहते हैं। इनके अनुसार सिविल विवाह अनिवार्य कर दिया गया, पुजारी बनने वालों की शिक्षा पर राजकीय नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया, उन्हें राजकीय परीक्षाएं पास करना अनिवार्य कर दिया गया, किसी को धर्म बहिष्कृत करने का चर्च का अधिकार छीन लिया गया, चर्च द्वारा अन्य प्रकार से दण्डित व्यक्ति को अपील का अधिकार दे दिया गया, धार्मिक पुजारियों की नियुक्ति राज्य द्वारा होना तय किया गया और समस्त कैथोलिक संस्थाओं को राज्य के नियन्त्रण में ले लिया गया।

'मई नियमों' को बड़ी कठोरता से लागू किया गया। उल्लघंनकर्ता कैथोलिकों एवं पादरियों को जेलों में डाल दिया गया या निर्वासित कर दिया गया। किन्तु पोप पायस की प्रेरणा से कैथोलिक मैदान में डटे रहे। विस्मार्क का दमन-कार्य जितना बढता गया, उतना ही कैथोलिकों का उत्साह बढता गया। सरकार के अत्याचारों को देखकर अन्य लोगों की सहानुभूति भी कैथोलिकों को प्राप्त होने लगी। 1877 के निर्वाचन में जर्मन की लोक सभा "रीहस्टाग" (Reichstag) में कैथोलिक सदस्यों की संख्या 92 तक पहुंच गई। इसी समय समाजवादी विचारधारा भी तेजी से फैलने लगी। बिना कैथोलिकों की सहायता के समाजवादी विचारधारा का सामना करना विस्मार्क के लिए मुश्किल था। अत: इन नव परिस्थितियों में विस्मार्क ने कैथोलिकों से समझौता कर लेने में ही अपना हित समझा।

सन् 1878 में पोप नवें पायस की जगह तेरहवां लिओ पोप बना जो

शांति प्रिय, मध्यम–मार्गीय और कूटनीतिज्ञ था तथा बिस्मार्क से समझौता करने को तैयार था। अत: 1878 में पोप और बिस्मार्क में समझौता हो गया। बिस्मार्क ने सारे कैथोलिक विरोधी नियम वापिस ले लिये। पोप से कूटनीतिक सम्बन्ध पुन: स्थापित हो गये। चर्च की पाठशालाओं पर से सरकारी नियन्त्रण हटा लिये गये और पादरियों की सरकारी शिक्षा भी बन्द कर दी गयी। पोप और सम्राट दोनों की सहायता से बिशपों की नियुक्ति होने लगी। अपनी इस पराजय को बिस्मार्क ने समझौते का नाम देकर अपनी लाज बचाई। बिस्मार्क को कैथोलिक दल का सहयोग प्राप्त हो गया। पर साथ ही इस दल की शक्ति खूब बढी और वह जर्मनी का सबसे प्रबल तथा शक्तिशाली दल बन गया।

(3) **औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्रांति**—बिस्मार्क ने औद्योगिक और व्यावसायिक क्रांति द्वारा जर्मनी को उन्नत बनाने की सफल चेष्टा की। उसने 1879 में पालिया-मेन्ट को इस बात पर राजी किया कि बाहर से आने वाले माल पर ऊंचे शुल्क लगाये जाएं और देश के उद्योग एवं व्यवसाय को सरकारी सहायता दी जाये। इस संरक्षण नीति को अपना कर बिस्मार्क ने 5 साल में ही जर्मनी को उद्योग और व्यवसाय–प्रधान देश बना दिया। देश में सैकड़ों नये कारखाने खुल गये, जिनमें बड़ी मात्रा में माल तैयार होने लगा। बाहर से आने वाले माल पर ऊंचा शुल्क लग जाने से आयात हतोत्साहित होने लगा और देशी माल की खपत बढ़ने लगी।

बिस्मार्क ने अनेक देशों से व्यापारिक समझौते किये। फलस्वरूप जर्मनी का माल नये–नये विदेशी बाजारों में बिकने लगा। जर्मनी का निर्यात बहुत बढ़ गया। उसके विदेशी व्यापार में आशातीत उन्नति हुई।

(4) **समाजवाद के विरुद्ध संघर्ष**—औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप जर्मनी में भी पूंजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष आरम्भ हो गया। वहां भी समाजवाद का जोर बढ़ने लगा। जर्मनी का सम्राट विलियम प्रथम समाजवाद को अपना शत्रु मानता था, क्योंकि समाजवादी नीतियों ने एक तो उसकी नीतियों का विरोध किया था और दूसरे उसकी हत्या का प्रयत्न भी किया था। समाजवादी जर्मनी की राजनीतिक व्यवस्था का खुले आम विरोध करते थे।

जब समाजवादियों की शक्ति बढ गई और वे जर्मन साम्राज्य के लिए संकट मालूम पड़ने लगे तो बिस्मार्क ने उनका दमन करने का निश्चय किया। कैथोलिकों से समझौता करके बिस्मार्क ने उन्हें अपना समर्थक बना लिया। अक्टूबर 1878 में समाजवादियों के विरुद्ध अनेक कानून बनाये गये जिन्हें समय–समय पर नया किया जाता रहा। इन कानूनों द्वारा समाजवादी संगठनों, सभाओं और प्रकाशनों पर रोक लगादी गई। समाजवादियों के विरुद्ध पुलिस को विशेषाधिकार दिया गया। हजारों समाजवादी गिरफ्तार कर लिये गये और सैकड़ों को देश से निकाल दिया गया। समाजवादियों को सामान्य न्यायालयों का संरक्षण भी प्रतिबन्धित कर दया गया।

पर दमन से समाजवादी आन्दोलन दबने के बजाय और बढ़ा। हां, उसका रूप अब गुप्त आन्दोलन का हो गया। समाजवादियों की शक्ति सभा, सोसाइटियों में नहीं बल्कि सिद्धान्तों और विचारों तथा श्रमिकों की हीन आर्थिक दशा में था। सन् 1890 में लोक-सभा (Reichstag) के चुनाव में समाजवादियों को 15 लाख वोट मिले जब कि 15 वर्ष पहले उन्हें केवल 3½ लाख वोट ही मिले थे। इस वर्ष उनके सब सदस्य लोक सभा के लिए चुने गये। समाजवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर 1890 में पहले के दमनकारी कानूनों को फिर से नया नहीं किया गया।

(5) **राज्य समाजवाद का प्रयोग और श्रमिकों की दशा में सुधार**—समाजवाद का सामना करने के लिए बिस्मार्क ने मजदूरों की आर्थिक दशा सुधार कर उन्हें सरकार का समर्थक बनाने का प्रयत्न किया। 1878 में एक भाषण में उसने कहा—"मैं उन समस्त उपायों की शरण लूंगा जिनके द्वारा श्रमिकों की दशा उन्नत हो सकती है।" इसी उद्देश्य से मजदूरों को लाभ पहुंचाने वाले अनेक कानून बनाये गये। मजदूरों के लिए बीमारी का बीमा, आकस्मिक दुर्घटना का बीमा और बुढापे के बीमे की व्यवस्था की गई। स्त्रियों और बच्चों के कार्य के घण्टे कम किये गये। अनेक उद्योगों में कार्य के घण्टे सीमित कर दिये गये। खानों और कारखानों के निरीक्षण की व्यवस्था की गई तथा रविवार की छुट्टी भी आरम्भ की गई। इन सब कार्यों के फलस्वरूप मजदूरों की दशा बहुत सुधर गई। बिस्मार्क के इन सुधारों से व्यवसायों में भी अधिक उन्नति हुई। अतः मिल मालिक, जो पहले इन सुधारों के विरोधी थे अब बिस्मार्क के समर्थक हो गये। बिस्मार्क की श्रमिकों के कल्याण की नीति "राज्य समाजवाद" (State Socialism) के नाम के प्रसिद्ध हुई। इस दिशा में बिस्मार्क मार्ग-प्रदर्शक माना जाता है।

बिस्मार्क ने समाजवादियों के प्रभाव को कम करने के लिए दमनकारी और श्रमिक कल्याणकारी दोनों ही साधनों का प्रयोग किया, किन्तु समाजवादियों का प्रभाव घटने की बजाय बढ़ता ही गया। समाजवादी दल के नष्ट करने की बिस्मार्क की आशा पूरी नहीं हो सकी।

(6) **बिस्मार्क और अन्य जातियां**—जर्मन साम्राज्य के संगठन में एक बड़ी बाधा यह भी थी कि साम्राज्य में अनेक गैर जर्मन जातियां मौजूद थीं। इन्हें जबरदस्ती जर्मन साम्राज्य में मिला लिया गया था। इन गैर-जर्मन जातियों में पोल, डेन और फ्रेन्च मुख्य थीं। बिस्मार्क ने उनकी राष्ट्रीयता को नष्ट करके उन्हें जर्मन बनाने का बहुत प्रयत्न किया। उसने दमन और सुविधा की दोनों नीतियां अपनाकर इन गैर-जर्मनियों को जर्मन साम्राज्य का समर्थक बनाने की चेष्टा की। लेकिन ये गैर-जर्मन-जातियां अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए जी-जान से लड़ती रहीं, अतः बिस्मार्क को इस दिशा में सफलता नहीं मिल सकी।

बिस्मार्क की विदेश-नीति

बिस्मार्क की विदेश-नीति का लक्ष्य नव-निर्मित जर्मन राज्य को स्थायित्व

और दृढ़ता प्रदान करना था। इसीलिए वह यूरोप में शांति बनाये रखने को प्रयत्नशील रहा। यद्यपि उसने जर्मनी का निर्माण सैनिक आधार पर किया लेकिन वह उसके लिए साध्य नहीं वरन् साधन था। बिस्मार्क चाहता था कि जर्मनी का एकीकरण स्थिर रहे और विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिले।

उद्देश्य—संक्षेप में बिस्मार्क की विदेश नीति के ये उद्देश्य थे—.

(1) यूरोप में शान्ति स्थापित की जाय ताकि जर्मनी का विघटन न होने पाये।

(2) फ्रांस को यूरोप के अन्य राज्यों से बिल्कुल अलग कर दिया जाए ताकि वह अल्सेस और लोरेन के प्रदेशों को, जिन्हें जर्मनी ने उससे छीन लिया था, पुनः वापिस ले लेने की हिम्मत न कर सके और यदि करे तो असफल रहे।

(3) यूरोप के राज्यों की जो सीमायें थीं, वे बनी रहें। उन्हें वैधानिक रूप से मान्य रखा जाए।

(4) इंगलैण्ड, आस्ट्रिया, रूस और इटली—इन प्रमुख राज्यों से घनिष्ठता स्थापित की जाए, ताकि यूरोप में शांति की स्थापना हो सके।

उद्देश्य पूर्ति के प्रयत्न—उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बिस्मार्क ने निरन्तर 20 वर्ष तक अथक परिश्रम किया। अपनी कूटनीति और सैनिकवाद के आधार पर वह शांति स्थापित करने में सफल हो गया। मुख्यतः उसी के प्रयत्नों का यह परिणाम रहा कि 1914 से पूर्व तक यूरोप में लगभग शांति बनी रही। उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विदेश नीति के क्षेत्र में बिस्मार्क ने निम्नलिखित कार्य किये—

(1) त्रि-राज्य संघ (League of Three Emperors—सन् 1872 में जब आस्ट्रियन सम्राट फ्रांसिस और रूस का जार द्वितीय एलेक्जेण्डर बर्लिन में सम्राट विलियन से भेंट करने आये हुए थे तब बिस्मार्क ने तीन राज्यों का एक संघ बनाया। जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में जो समझौता हुआ, उसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि—(i) सन् 1871 की प्रादेशिक व्यवस्था को बनाये रखा जायेगा, (ii) बल्कान समस्या का तीनों के लिए मान्य हल निकाला जायेगा, और (iii) अपने-अपने देश में क्रान्तिकारी भावनाओं का दमन किया जायेगा।

इस संघ के कारण फ्रांस अब रूस और आस्ट्रिया का मित्र बनने में असमर्थ हो गया। यह बिस्मार्क की एक सफल कूटनीतिक चाल थी। तीनों सम्राटों की यह मित्रता आगे चलकर और भी मजबूत हो गयी। 1873 में रूस और जर्मनी के बीच एक गुप्त सैनिक संधि हुई जिसमें दोनों देशों ने वायदा किया कि यदि उनमें से किसी पर विदेशी आक्रमण हुआ तो वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। इसी तरह रूस और आस्ट्रिया के बीच भी यह तय हुआ कि दोनों देश अपने हितों की रक्षा के लिए एक दूसरे से सलाह करते रहेंगे।

इस त्रि-राज्य संघ या तीन सम्राटों के संघ का स्वरूप बहुत दिनों तक वैसा

नहीं रहा। 1875 में जर्मनी और फ्रांस के बीच लड़ाई की आशंका बढ़ गई। रूस इसमें जर्मनी का पक्का मित्र साबित नहीं हुआ, अतः बिस्मार्क ने आस्ट्रिया से अपने सम्बन्ध और भी दृढ़ करने का निश्चय किया। सन् 1878 में रूस और टर्की के बीच युद्ध के बाद रूस एवं आस्ट्रिया के स्वार्थों में संघर्ष हुआ। इस समय बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के प्रति अपनी दिलचस्पी दिखाई। इससे जर्मनी और रूस की दोस्ती में दरार आ गई। रूस त्रि-राज्य संघ से विमुख हो गया, हालांकि संघ का अन्त नहीं हुआ।

(2) द्वि-गुट (Dual Alliance)—अब यूरोप में जर्मनी के दो शत्रु फ्रांस और रूस हो गये। अतः आस्ट्रिया से अपनी दोस्ती और पक्की करने के लिए सन् 1879 में बिस्मार्क ने एक पारस्परिक सुरक्षा सन्धि की। इस आस्ट्रो-जर्मन सन्धि को 'द्वि-गुट सन्धि' कहते हैं। यह सन्धि पूर्णतः गुप्त रखी गई। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि—

(i) रूस द्वारा उन दोनों में से किसी पर आक्रमण किये जाने पर वे दोनों एक-दूसरे की सहायता करेंगे।

(ii) यदि जर्मनी या आस्ट्रिया पर फ्रांस आक्रमण करता है तो दूसरा मित्र तटस्थता की नीति अपनायेगा।

(iii) यदि रूस आक्रमण के लिए फ्रांस की सहायता करेगा तो वे दोनों (आस्ट्रिया और जर्मनी) भी संयुक्त सहायता द्वारा शत्रु का सामना करेंगे।

(iv) यदि रूस के अतिरिक्त अन्य किसी देश से युद्ध हुआ तो दोनों ही तटस्थ रहेंगे।

यह सन्धि पांच वर्ष के लिए थी। सन् 1888 तक की शर्तें प्रकाशित नहीं की गई। यह सन्धि मुख्यतः रूस के विरुद्ध और गौण रूप से फ्रांस के विरुद्ध रक्षात्मक सन्धि थी। बिस्मार्क की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय गुट निर्माण का वह सिलसिला शुरू हुआ जो प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक यूरोपीय कूटनीति के क्षेत्र पर अपना विशेष प्रभाव जमाये रहा।

(3) बर्लिन संधि एवं त्रिराज्य संघ को पुनर्जीवन—आस्ट्रो-जर्मन सन्धि से रूस और जर्मनी के सम्बन्ध कमजोर अवश्य हुए लेकिन सदा के लिए खराब नहीं हुए। रूस में ऐसे पदाधिकारी अभी भी थे जो जर्मनी के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहते थे। बिस्मार्क को भी विश्वास था कि रूस की नाराजगी अधिक समय तक नहीं रहेगी और वह फ्रांस की ओर आकर्षित न हो कर पुनः जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ आ मिलेगा। इतना ही नहीं वह स्वयं भी रूस की मैत्री का मूल्य समझता था। अतः जून 1881 में बिस्मार्क के प्रयत्नों से एक बार फिर "तीन सम्राटों के संघ या त्रि-राज्य संघ" को पुनर्जीवन मिला। जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया के बीच बर्लिन में एक गुप्त सन्धि हुई। इसके अनुसार यह निश्चित हुआ कि यदि तीनों में से किसी को एक चौथी शक्ति से युद्ध करना पड़ा तो—

(i) अन्य सदस्य तटस्थ रहेंगे,

(ii) तटस्थ सदस्य युद्ध को सीमित रखने का प्रयत्न करेंगे,

(iii) बर्लिन सम्मेलन (1878) द्वारा बल्कान प्रायद्वीप के सम्बन्ध में जो फैसले हुए थे, रूस उनका उल्लंघन नहीं करेगा, एवं

(iv) टर्की के बारे में यदि भविष्य में कोई समस्या उत्पन्न हो तो तीनों राज्य मिलकर उसका फैसला करेंगे।

1881 की बर्लिन सन्धि बिस्मार्क की कूटनीति की एक महान् सफलता थी। इससे यूरोपीय सन्धि बनाये रखने में बड़ी सहायता मिली। इस समय तृतीय एलेक्जेण्डर (1881–94) रूस का जार था। आगे चलकर 1885–86 में "बलगेरियन संकट" के समय इस 'त्रि-सम्राट संघ' का अन्त हो गया।

(4) त्रि-गुट (Triple Alliance) की स्थापना—जर्मनी को अधिक सुरक्षित रखने के लिए बिस्मार्क ने अपना ध्यान इटली की ओर दिया। सन् 1881 में फ्रांस ने ट्यूनिशिया पर अधिकार करके इटली को नाराज कर दिया। बिस्मार्क ने मौके का लाभ उठाया। 20 मई, 1882 को आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली के बीच एक सन्धि हुई। इन तीनों देशों के गुट को त्रि-गुट (Triple Alliance) कहा गया। यह बिस्मार्क के कूटनीतिक कमाल का सबसे बड़ा नमूना कहा जा सकता है। इसके द्वारा बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली जैसे परस्पर विरोधी राज्यों को आपस में मिलाये रखा और इस तरह फ्रांस को किसी भी राज्य के साथ मिलने का अवसर नहीं दिया। त्रि-गुट समझौते के अनुसार यह तय किया गया कि—

(i) इटली आस्ट्रिया के विरुद्ध कोई प्रचार नहीं करेगा।

(ii) इटली की फ्रांस के आक्रमण से रक्षा की जायेगी।

(iii) इटली भी दोनों देशों की ऐसे अवसर पर सहायता करेगा।

(iv) यदि दोनों देशों पर कोई भी देश आक्रमण करेगा तो तीनों मिलकर उसका सामना करेंगे।

यह सन्धि भी गुप्त और रक्षात्मक थी। यह सन्धि पांच वर्ष के लिए की गई थी। यह समझौता सन् 1887 में दोहराया गया जिसमें यह निश्चय किया गया कि पहले निश्चय किए बिना इटली या आस्ट्रिया बल्कान के किसी भू-भाग पर अधिकार न करे।

(5) रूस के साथ पुनराश्वासन सन्धि—त्रि-गुट को असफल बनाने के लिए बिस्मार्क ने रूस को और पक्का कर लेना चाहा। बिस्मार्क चाहता था कि जर्मनी की पूरी सीमा रूस के आक्रमण से सुरक्षित रहे। अतः उसने सन् 1884 में बर्लिन में रूस के साथ "पुनराश्वासन सन्धि" (Re-Insurance Treaty) की, जिसके अनुसार निम्न बातें निश्चित की गई—

(i) यदि तीनों मित्रों में से कोई किसी चौथी शक्ति से युद्ध करेगा तो शेष दोनों तटस्थ रहेंगे।

(ii) बाल्कान का झगड़ा होने पर तीनों मित्र अपने हितों का ध्यान रखेंगे। बाल्कान में दोनों में मतभेद हो जाने पर तीसरे का मत निर्णायक होगा।

(iii) जर्मनी ने रूस के प्रभाव को बलगेरिया में स्वीकार कर लिया।

(iv) आस्ट्रिया को अधिकार दिया गया कि वह बासिनिया और हर्जीगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाले।

(v) सन् 1881 के आधार पर कुस्तुनतुनिया के जल-संयोजक को सामाजिक कार्यवाहियों से मना किया जाये।

(6) **इंगलैण्ड के साथ सम्बन्ध**—बिस्मार्क सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि इंगलैंड से जर्मनी का विरोध न हो जाए। उसकी सद्भावना प्राप्त करने के लिए उसने बेल्जियम के मामले में कभी भी हस्तक्षेप नहीं किया, क्योंकि बेल्जियम अंग्रेज़ों को अत्यन्त प्रिय था। इंगलैंड की सद्भावना प्राप्त करने के लिए ही उसने अंग्रेजों के समुद्रपारीय प्रदेशों में बहुत समय तक हस्तक्षेप नहीं किया।

(7) **आस्ट्रिया-रूमानियां के साथ मैत्री संधि**—सन् 1883 में आस्ट्रिया और रूमानिया के बीच एक संधि हुई। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि रूस के विरुद्ध दोनों देश एक दूसरे की सहायता करेंगे। इटली और जर्मनी ने भी इस संधि को मान लिया। इससे शक्ति-सन्तुलन हो गया और शक्ति-सन्तुलन ही बिस्मार्क की नीति का मुख्य सिद्धान्त था जिसके कारण बिस्मार्क को अपना उद्देश्य पूरा करने में सफलता मिली।

(8) **यूरोपीय महाद्वीप तक सीमित दृष्टिकोण**—बिस्मार्क उपनिवेशवादी नहीं था। वह काण्टीनेन्टलिस्ट था। वह जर्मनी के प्रभाव को केवल यूरोप तक ही सीमित रखना चाहता था। उसे अब अधिक भू-भाग को जीतने की आकांक्षा न थी। वह अच्छी तरह जानता था कि उपनिवेशवाद के चक्कर में फंसकर शांति स्थापित नहीं की जा सकती। ऐसा करने से फ्रांस व इंगलैंड उसके शत्रु बन सकते थे और वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में असफल हो जाता। अतः बिस्मार्क इस बात में प्रयत्नशील रहा कि जर्मनी की शक्ति को यूरोपीय महाद्वीप तक ही सीमित रखी जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1871 से 1890 तक बिस्मार्क की अध्यक्षता में जर्मनी यूरोपीय राजनीति का केन्द्र बना रहा। बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए एक गुत्थीदार सुरक्षा की व्यवस्था की जिसमें संधिया और संधियों के विरोध में नई संधियां थीं। बिस्मार्क ने बड़ी बुद्धिमानी से इसका ताना-बाना बुना था; फिर भी वह जानता था कि युद्ध को हमेशा के लिए नहीं रोका जा सकेगा। अतः उसने जर्मनी की सैनिक शक्ति को खूब बढ़ाया। अपनी सफल विदेश नीति के कारण बिस्मार्क ने जर्मनी के प्रभुत्व की रक्षा की।

मूल्यांकन : बिस्मार्क की व्यवस्था की कमजोरियां

बिस्मार्क की व्यवस्था घर के बाहर और भीतर करीब सन् 1885 तक ठीक से कार्य करती रही। उसकी व्यवस्था की सफलता इस बात से जाहिर होती है कि जब तक वह अपनी संधि व्यवस्थाओं का संचालन करता रहा, जर्मनी की समृद्धि बढ़ती गई और उसके विरुद्ध कोई जबरदस्त गुटबन्दी नहीं हो सकी। बिस्मार्क की व्यवस्था ने यूरोप को स्थायित्व प्रदान किया। उसने एक पीढ़ी के लिए शांति दी।

लेकिन बिस्मार्क की व्यवस्था में कुछ गम्भीर खामियां थीं—

1. जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के गुट में परस्पर विरोधी तत्व थे। अतः रूस जर्मनी से निरन्तर दूर होता गया।

2. बिस्मार्क की व्यवस्था की आधारशिला कमजोर थी। बिस्मार्क ने ग्रेट-ब्रिटेन को आवश्यक महत्व नहीं दिया। उसने कई बार ब्रिटेन की मित्रता को ठुकरा कर अन्य गठबन्धन किया।

3. बिस्मार्क ने कुछ समय के लिए फ्रांस का पृथक्करण कर दिया लेकिन उसने न तो उसके क्षोभ को दूर करने की कोशिश की और न उसका निःशस्त्रीकरण किया।

4. बिस्मार्क ने फ्रांस के विरुद्ध संधियों का जाल खड़ा कर दिया, अतः फ्रांस को अपने लिए मित्रों की खोज करनी पड़ी, जिससे अन्त में जर्मनी को नुकसान पहुँचा।

5. बिस्मार्क ने इटली को अपनी व्यवस्था में समुचित स्थान नहीं दिया।

6. बिस्मार्क की सबसे बड़ी गलती यह हुई कि उसने उत्तराधिकारियों को अपनी व्यवस्था को चलाने का समुचित प्रशिक्षण नहीं दिया। फल यह हुआ कि बिस्मार्क के हटते ही उसकी व्यवस्था समाप्त हो गई।

दरअसल 1888 तक बिस्मार्क की व्यवस्था प्रायः समाप्त हो गई। फ्रांस के साथ उसका समझौता लगभग समाप्त हो गया और रूस के साथ भी मन-मुटाव बढ़ गया। बिस्मार्क की व्यवस्था ने जर्मनी के भविष्य को एक विशाल सेना के भरोसे छोड़ दिया। आंतरिक क्षेत्र में भी कैथोलिकों और समाजवादियों के समक्ष बिस्मार्क को पराजय हाथ लगी। बिस्मार्क ने जन-आन्दोलन को दबाने की काफी कोशिश की, लेकिन उसे स्वयं को दबना पड़ा। वास्तव में बिस्मार्क अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक जटिल समस्या छोड़ गया।

फिर भी यह सुनिश्चित है कि योरोपीय इतिहास में बिस्मार्क का स्थान अद्वितीय है। उसकी गणना आधुनिक यूरोप के महान् राजनीतिज्ञों में की जाती है। वह उन व्यक्तियों में से था जिनके कार्यों का प्रभाव सम्पूर्ण योरोपीय राजनीति पर पड़ा और जिन्होंने अपने कार्यों से समस्त यूरोप को प्रभावित किया। अशिक्षित और छिन्न-भिन्न जर्मनी को उसने अल्पकाल में ही यूरोपीय रंगमंच का जगमगाता

सितारा बना दिया। पहले-गुटों का निर्माण युद्ध-काल में होता था और युद्ध-काल तक ही वे प्राय: अस्तित्व में रहते थे, किन्तु बिस्मार्क ने शांतिकाल में युद्धों को रोकने और शांति बनाए रखने के लिए गुटीय कूटनीति का समारम्भ किया।

बिस्मार्क का मूल्यांकन करते हुए जी. वी. स्मिथ ने लिखा है—"शासक के रूप में बिस्मार्क सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों में से एक था। घमंडी होते हुए भी वह समय देखकर चलने वाला था। वह शेखी बघारा करता था कि उसने कूटनीति में सत्य-संभाषण के एक नये युग का सूत्रपात किया है। उसमें अनेक दुर्बलतायें थीं। वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों से ईर्ष्या और शत्रुओं से वैमनस्य रखने वाला सिद्धान्तहीन व्यक्ति था। वह यथार्थ में कोई वक्ता नहीं था, किन्तु मौके पर अपनी मातृभाषा में ओजस्वी भाषण दे सकता था। अपने देश की स्वतन्त्रता स्थापित करके उसने स्वातन्त्र्य युद्ध को सफल बना दिया था। चान्सलर की यूरोप में ऐसी व्यक्तिगत धाक थी जो 19वीं सदी में अद्वितीय थी।' प्रो० फिलिप के अनुसार "बिस्मार्क राजनीति में मैटरनिख की तरह जनमत की उपेक्षा नहीं करता था। वह जानता था कि जनमत एक अंधे शक्तिशाली दानव की तरह होता है जिसे सरलता से काम में लाया जा सकता है और जो कुशलता से व्यवहार करने पर काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है, किन्तु चिढ़ जाने पर भयानक भी हो सकता है। बिस्मार्क ने 'अत्यावश्यक' परिस्थितियों में ही जनमत से सहयोग किया।" सीमैन के शब्दों में "बिस्मार्क के उद्देश्य और व्यवहार को ध्यान में रखकर जर्मनी में उसकी तुलना इटली के कैवूर से की जाती रही है।"

सम्राट विलियम प्रथम की मृत्यु और बिस्मार्क का पदत्याग

सन् 1888 में 91 वर्ष की आयु में सम्राट विलियम प्रथम की मृत्यु हो गई। उसका पुत्र फ्रेडरिक तृतीय गद्दी पर बैठा, किन्तु तीन महीने बाद ही उसकी भी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् उसका 29 वर्षीय महत्वाकांक्षी पुत्र विलियम द्वितीय सिंहासन पर बैठा। वह जर्मनी का अन्तिम सम्राट था। गद्दी पर बैठते ही उसकी बिस्मार्क से खींचातानी आरम्भ हो गयी। वह अपने चांसलर के हाथों की कठपुतली नहीं बना रहना चाहता था। गृह और विदेश-नीति की कई मुख्य बातों में, उनमें तीव्र मतभेद था जो अन्तत: इतना बढ़ गया कि 20 मार्च सन् 1890 को बिस्मार्क ने त्यागपत्र दे दिया। 1871 से 1890 की अवधि में जो व्यक्ति यूरोप का भाग्य-विधाता रहा, उसका पराभव इस प्रकार राजनीतिक कारणों से नहीं बल्कि व्यक्तिगत कारणों से हुआ। दोनों की रस्साकशी को इंगित करते हुए गूच ने लिखा है "बिस्मार्क इतना वृद्ध हो गया था कि सेवक बनना नहीं सीख सकता था और विलियम द्वितीय इतना युवक था कि उसमें प्रतीक्षा करने के लिए धैर्य नहीं था।"

सम्राट विलियम द्वितीय का शासन-काल
(1888–1918)

सन् 1888 में जर्मनी की गद्दी पर बैठने वाला विलियम द्वितीय बड़ा ही

महत्वाकांक्षी और असाधारण क्षमता-सम्पन्न सम्राट था। 'केसर' के नाम से संसार भर में प्रसिद्ध इस सम्राट का शासन-काल सन् 1918 तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध के अन्त तक रहा। अभी तक विस्मार्क ही जर्मनी का सर्वेसर्वा रहा था, किन्तु नये सम्राट को यह सहन नहीं हो सका और उसने अपने चान्सलर से त्यागपत्र मांग लिया। इसके वाद विलियम द्वितीय ही जर्मनी का सर्वेसर्वा रहा। मंत्री यथार्थ रूप में और सिद्धान्ततः उसके सेवक बने रहे। साम्राज्य की नीति स्वयं सम्राट की नीति रही और जर्मनी का भाग्य उसकी मुट्ठी में बन्द रहा।

विलियम द्वितीय की गृह-नीति

विलियम द्वितीय जर्मनी को संसार की महान्तम शक्तियों में से एक बनाना चाहता था। वह 'विश्व-शक्ति अथवा पतन' की नीति का पुजारी था। अतः गृह तथा विदेश नीति के क्षेत्र में उसके सब कार्य इसी विचार से प्रेरित रहे। उसने विभिन्न उपयोगी और प्रभावशील कदम उठाकर औद्योगिक तथा सैनिक क्षेत्र में जर्मनी के गौरव को शिखर पर पहुंचा दिया। जर्मनी की सैनिक तैयारियों ने चारों ओर भय तथा आशंका का वातावरण पैदा कर दिया। यह स्थिति प्रथम महायुद्ध को निकट लाने में सहायक हुई।

विलियम द्वितीय की गृह-नीति को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) अपने विचारों के अनुकूल चांसलरों (प्रधानमंत्रियों) की नियुक्ति—विस्मार्क को पद्च्युत करने के बाद सम्राट विलियम ने ऐसे चान्सलरों की नियुक्ति की जो पूरी तरह उसके विचारों के अनुकूल चलते थे। उसके शासन में 4 व्यक्तियों ने पृथक्-पृथक समय में प्रधान-मन्त्रित्व किया—

पहला चान्सलर केप्रिवी (Caprivi) बना जो 1890 से 1894 तक इस पद पर रहा। उसने अपने समय में सैनिक नियमों के अनुकूल शासन की व्यवस्था की।

दूसरा चान्सलर होहेनलोह (Hohenlohe सन् 1894 से 1900 तक इस पद पर रहा। अधिक वृद्ध होने के कारण यह नाम-मात्र का चान्सलर था।

तीसरा चान्सलर वानबुल्लो (Von Bullow) बना जो 1900 से 1909 तक पदारूढ़ रहा। वह उपनिवेशों द्वारा जर्मनी की समृद्धि का पक्षपाती था। वह देश की प्रतिष्ठा उग्र-नीति द्वारा स्थापित करना चाहता था।

जर्मनी का चौथा और अन्तिम चांसलर वेथमैन हालविग (Bethmann Hollweg) 1909 से 1917 तक चांसलर रहा। उसे विदेश नीति का कोई अच्छा ज्ञान नहीं था, जिसका फल यह हुआ कि जर्मनी को उसकी नीति ने महायुद्ध में धकेल दिया।

(2) औद्योगिक विकास—विलियम द्वितीय का शासन जर्मनी के औद्योगिक और व्यापारिक विकास के लिए बहुत ही गौरवपूर्ण रहा। इस क्षेत्र में उसने देश को

इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रतिद्वन्द्वी भी किसी सीमा तक बना दिया। उसने संरक्षण की नीति अपनायी तथा कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था को उद्योग प्रधान अर्थ-व्यवस्था में बदल दिया। जर्मनी में कल-कारखानों की तेजी से स्थापना की गई। रूर, साइलेशिया और सागर की खानों से प्रचुर मात्रा में कोयला निकाला जाने लगा। लोरेन में लोहे का अपार भंडार प्राप्त हो गया जिसके अधिकाधिक उपयोग से लोहा तथा फौलाद के उत्पादन में जर्मनी शीघ्र ही इंगलैण्ड से भी आगे निकल गया। सन् 1914 के आते-आते संसार में जर्मनी का स्थान कोयले में तीसरा और लोहे में दूसरा हो गया। मशीनरी का निर्यात 25 वर्षों में 12 गुना हो गया। जहाज-निर्माण उद्योग ने आशातीत उन्नति की और जर्मनी के जहाज संसार भर के देशों के जहाजों से अच्छे माने जाने लगे। जर्मनी का निर्यात-व्यापार पहले से पांच गुना हो गया। जर्मनी ने 1914 में 15 अरब रुपयों का सामान बाहर भेजा जबकि 1870 में केवल तीन अरब रुपयों का माल ही बाहर भेजा गया था। बिजली के सामान, रासायनिक पदार्थ आदि तैयार करने में उसने संसार के सभी देशों को पीछे छोड़ दिया। जर्मनी हर तरह से व्यवसाय का केन्द्र बन गया। विश्व के सामुद्रिक व्यापार में उसने बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई, किन्तु उद्योग-धन्धों का इतना विकास हुआ कि लोगों को रोजगार की कमी नहीं आई। बेकारी की समस्या बहुत कुछ हल हो गई। जहां सन् 1880 में रोजगार आदि की तलाश में लगभग ढाई लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष बाहर चले जाते थे वहां 1914 में यह संख्या केवल 25 हजार के आसपास रह गई।

(3) **सैनिक शक्ति में वृद्धि**—विलियम द्वितीय ने जर्मनी को एक प्रबल सैन्य शक्ति वाला देश बनाना चाहा। अतः उसने लोक-सभा के कंजरवेटिव दलों के सहयोग से सेना का खूब विस्तार किया। सर्वप्रथम 1893 में शान्तिकाल के लिए सेना की संख्या 4,25, 000 नियत की गयी जो 1902 में बढ़ाकर 4,95,500 करदी गई तथा आगे चलकर उसमें और भी वृद्धि की व्यवस्था की गई। 17 वर्ष के हर युवक के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा अवधि तीन वर्ष से घटाकर दो वर्ष करदी गई। इन सब व्यवस्थाओं का परिणाम यह हुआ कि सेना में कार्य करने योग्य व्यक्तियों की संख्या 40 लाख तक हो गई। जर्मनी की जल-सेना का भी असाधारण विस्तार हुआ। जर्मन-व्यापार तथा औपनिवेशिक साम्राज्य की रक्षा के लिए विलियम द्वितीय ने एक प्रबल जलसेना आवश्यक मानी। उसने कहा "हमारा भविष्य समुद्र पर है और मैं तब तक चैन से नहीं बैठूंगा जब तक अपनी जल-सेना को स्थल सेना के समान ही शक्तिशाली नहीं कर लूंगा। जर्मनी की औपनिवेशिक आकांक्षाओं की पूर्ति तभी हो सकती है जब वह समुद्र पर प्राधान्य स्थापित करले।" इसी उद्देश्य से अनेक प्रकार के जंगी जहाज बड़ी संख्या में बनाये गये। सैनिक बन्दरगाहों का निर्माण किया गया। उत्तरी सागर और बाल्टिक सागर के बीच सीधा जलमार्ग

वनाने के लिए कील के बन्दरगाह से एल्वा नदी के मुहाने तक 61 मील लम्बी एक नहर वनायी गई जिसे कील नहर कहते हैं। इसके फलस्वरूप जर्मनी की नौ-सेना की उपयोगिता दुगुनी हो गयी। जल-शक्ति में विलियम द्वितीय की महत्वाकांक्षा इंगलेंड के लिए एक गंभीर चुनौती वन गई। अतः उसने भी अपनी नौ-सेना का विस्तार आरम्भ कर दिया। ब्रिटिश नीति सदैव यही रही थी कि उसकी नौ-सेना यूरोप के किन्हीं दो देशों की नौ-सेनाओं के वरावर हो।

(4) समाजवाद विरोधी नीति का परित्याग और समाजवादियों से पुनः विरोध—विस्मार्क के समय से ही जर्मनी में ये प्रसिद्ध दल थे—केन्द्रीय दल, अनुदार दल, जातीयवादी दल, उदार विकासवादी दल और सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल। विलियम द्वितीय के समय विकासवादी दल कमजोर पड़ता गया और सामाजिक प्रजातन्त्रीय दल मजवूत होता गया। विस्मार्क की तरह विलियम भी समाजवादियों से अप्रसन्न था, किन्तु उसने दमनकारी नियमों का आश्रय नहीं लिया। वह चाहता था कि अच्छे व्यवहार-प्रदर्शन तथा सामाजिक-आर्थिक सुधारों द्वारा समाजवादियों का प्रभाव नष्ट किया जाए। अतः उसने समाजवाद विरोधी कानूनों को समाप्त हो जाने दिया। पर विलियम की उदारनीति से समाजवादी उल्टे उग्र होते गये। उन्होंने अपने को संगठित करना आरम्भ कर दिया। वे राजतन्त्र के विरुद्ध आवाज उठाने लगे। लोक-सभा में उनकी शक्ति वढ़ती गई। सन् 1907 के निर्वाचन में जहां उन्हें 43 स्थान मिले थे वहां 1912 के निर्वाचन में 110 स्थान प्राप्त हुए। 1913 तक समाजवादी दल इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने सम्राट सलाहकार समिति के विरुद्ध लोक-सभा में अविश्वास का प्रस्ताव भी पास करा लिया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो सरकार और समाजवादियों के वीच घोर संघर्ष छिड़ जायेगा, किन्तु यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी विस्फोटक थी कि संघर्ष टल गया। शीघ्र ही 1914 में प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने से अविश्वास प्रस्ताव का कोई मूल्य नहीं रहा।

विलियम द्वितीय की विदेश-नीति

विस्मार्क की रुचि महाद्वीपीय मामलों तक ही सीमित रही थी, विलियम द्वितीय 'विश्व राजनीति' के मार्ग पर चला। उसकी महत्वाकांक्षा थी कि जर्मनी एक प्रवल सैनिक और आर्थिक शक्ति का राष्ट्र वन कर संसार में अपना 'उपयुक्त स्थान' प्राप्त करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कहीं भी कोई महत्वपूर्ण कदम जर्मन-साम्राज्य के सहयोग के विना न उठाया जाय। विलियम ने एशिया और अफ्रीका में जर्मनी का प्रभाव वढ़ाने की चेष्टा की तथा अपनी औपनिवेशिक और आर्थिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण करके इंगलैण्ड को चुनौती दी। उसकी अस्थिर और स्वार्थपरक विदेश-नीति ने यूरोप के सभी राष्ट्रों में जर्मनी के प्रति सन्देह पैदा कर दिया। विस्मार्क का सम्पूर्ण 'ताना-वाना' नष्ट हो गया

और कुछ ही वर्षों के भीतर रूस तथा इंगलैण्ड से शत्रुता हो गई और फ्रांस की दुश्मनी पहले से ज्यादा बढ़ गई। सन् 1907 तक जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के त्रिगुट के विरुद्ध फ्रांस, रूस और इंगलैण्ड की त्रिराष्ट्र मैत्री स्थापित हो गई। विलियम की विदेश नीति ने जर्मनी के लिए खतरनाक उलझनें पैदा करदी। उसने एक साथ इतने मसले हाथ में ले लिए जिन्हें सुलझाना उसके वश की बात नहीं थी। जर्मनी को 'विश्व-शक्ति' बनाने की उत्कृष्ट लालसा में ही उसने जर्मनी के सर्वनाश को आमंत्रित किया।

(1) **औपनिवेशिक विस्तार**—औद्योगिक उन्नति के कारण जर्मनी में अत्यधिक माल तैयार होने लगा। अतः विलियम के शासनकाल में नये-नये बाजार प्राप्त करने के लिए औपनिवेशिक विस्तार किया गया। इस नीति के फलस्वरूप पश्चिमी अफ्रीका में उत्तरी गायना के होगोलैण्ड और कामरेन के दो लाख वर्ग मील से अधिक क्षेत्र पर, दक्षिण पूर्वी अफ्रीका की तीन लाख बीस हजार वर्ग मील भूमि पर और पूर्वी अफ्रीका के 600 मील लम्बे प्रदेश पर जर्मनी का अधिकार हो गया। इसके अतिरिक्त प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में न्यूगाइना के एक भाग पर, और कैरोलाइन तथा सोलोमन द्वीप समूह पर भी जर्मनी ने आधिपत्य स्थापित कर लिया। औपनिवेशिक विस्तार की नीति के कारण जर्मनी को यूरोपीय शक्तियों से शत्रुता मोल लेनी पड़ी जिनका परिणाम बड़ा भयानक निकला।

(2) **रूस के प्रति उदासीनता : फ्रांस तथा रूस में सन्धि**—विलियम द्वितीय ने रूसी मैत्री के मूल्य को नहीं समझा। रूस के साथ की गई सुरक्षा-सन्धि, 1890 में समाप्त हो रही थी, किन्तु विलियम ने यह कह कर उसकी पुनरावृत्ति करने से इन्कार कर दिया कि सन्धि की व्यवस्थायें जटिल हैं जिनमें आस्ट्रिया के लिए धमकी छिपी है। जर्मनी के इस आचरण से रूस बड़ा क्षुब्ध हुआ। उसने स्वयं को असुरक्षित समझते हुए अनिच्छा से फ्रांस की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। जनवरी, 1895 में एक दूसरे के विरोधी ये दोनों ही देश परस्पर सन्धि द्वारा बंध गये। इनका द्वि-गुट (Dual Alliance) स्थापित हुआ। यह निर्णय किया गया कि—

(1) फ्रांस पर जर्मनी अथवा उसकी सहायता से इटली द्वारा आक्रमण किया जाने पर रूस जर्मनी पर आक्रमण करेगा,

(2) यदि रूस पर जर्मनी अथवा उसकी सहायता से आस्ट्रिया का आक्रमण हुआ तो फ्रांस रूस की सहायता करेगा।

(3) दोनों में से कोई भी अलग सन्धि नहीं करेगा। इस सन्धि की अवधि वही होगी जो त्रिगुट की थी।

सम्राट विलियम की कल्पना भी नहीं थी कि रूस और फ्रांस के बीच सन्धि हो जायेगी। अतः जब उसे सन्धि का समाचार मिला तो उसने रूस के जार निकोलस

को पत्र लिखकर इस नीति के सम्भावित खतरों को समझाने की चेष्टा की, किन्तु 'सांप मर जाने पर लाठी पीटने' से कोई लाभ न था। अगले ही वर्ष 1896 में रूसी सम्राट और साम्राज्ञी ने फ्रांस पहुंच कर अपनी प्रगाढ़ मैत्री प्रदर्शित की। रूस और फ्रांस के मिल जाने से यूरोप में जर्मनी का 'प्राधान्य' संदिग्ध हो गया तथा यूरोपीय राज्य दो गुटों में विभाजित होने लगे। फ्रांस और रूस में विलियम ने आगे चल कर पुनः फूट डालने के प्रयत्न किये लेकिन सफलता नहीं मिली।

(3) **द्वि-गुट से मेल का असफल प्रयत्न**—विलियम ने अगले दस वर्षों में एक ओर तो द्वि-गुट में फूट डालने की तथा दूसरी ओर द्वि-गुट से मेल करने की काफी कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। 1895 में लियाओतुंग प्रायद्वीप से जापान को निकालने में उसने फ्रांस और रूस का साथ दिया। 1899 में रूस को खुश करने के लिए ही उसने इंगलैण्ड से सन्धि करने से इन्कार कर दिया। सन् 1905 में विलियम ने प्रयत्न किया कि रूस, फ्रांस और जर्मनी के बीच सन्धि हो जाय। पर उसकी कूटनीति कोई फल नहीं ला सकी, उल्टे इंगलैण्ड की मित्रता का बलिदान करना पड़ा। विलियम की अस्थिर विदेश–नीति ने किसी भी देश में जर्मनी के प्रति विश्वास की भावना पैदा नहीं की। सन् 1904–5 में विलियम ने जापान के विरुद्ध युद्ध में रूस की सहायता करना तो दूर रहा, उसकी पराजय से लाभ और उठाना चाहा। वह बाल्कान प्रायद्वीप में आस्ट्रियन हितों को आगे बढ़ाने लगा। परिणाम यह हुआ कि रूस से समझौता असम्भव हो गया। फ्रांस और रूस जर्मनी के विरोधी बन गये तथा इंगलैण्ड भी विलियम की कार्यवाहियों से पूर्ण आशंकित हो गया।

(4) **टर्की से मैत्री**—एशिया में जर्मनी का प्रभाव कायम करने के लिए विलियम ने जर्मनी और एशिया के बीच एक नया मार्ग कायम करना चाहा—जर्मनी से आस्ट्रिया, आस्ट्रिया से बाल्कान, बाल्कान से टर्की, टर्की से मैसोपोटामिया और मैसोपोटामिया से ईरान की खाड़ी। इस मार्ग को पाने के लिए विलियन ने टर्की को विभिन्न सेवायें देकर अपना मित्र बनाया। बर्लिन-कांग्रेस तक टर्की पर इंगलैण्ड का प्रभाव था, किन्तु साइप्रस-समझौते तथा मिस्र पर ब्रिटिश प्रभुत्व आदि की घटनाओं से टर्की में इंगलैण्ड के प्रति कोई सद्भावना नहीं रही। विलियम ने इस स्थिति से लाभ उठाया। 1889 में वह साम्राज्ञी सहित कुस्तुन्तुनिया पहुँच कर सुल्तान अब्दुल हमीद से मिला। 1898 में उसने पुनः टर्की-सुल्तान से भेंट करके अपनी मित्रता का आश्वासन दिया। जर्मनों द्वारा टर्की की फौजों को प्रशिक्षण दिया गया। विलियम ने दमिश्क में विश्व के सभी मुसलमानों को आश्वासन दिया कि सुल्तान हमीद और उसे अपना खलीफा मानने वाले 30 करोड़ मुसलमान यह विश्वास कर सकते हैं कि जर्मन सम्राट सदैव उनका मित्र बना रहेगा। विलियम का यह भाषण भारत, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका, रूस आदि की मुस्लिम प्रजा को उकसाने वाला था। फलस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप में, विशेषतया इंगलैण्ड और फ्रांस में चिन्ता फैल गई। विलियम के

मनसूबे तब और भी स्पष्ट हो गये जब सुल्तान हमीद ने 1902 में एक समझौते द्वारा कुस्तुन्तुनिया से बगदाद तक रेल्वे लाइन बनाने का काम जर्मन पूंजीपतियों को सौंप दिया। इस योजना से इंगलैण्ड विशेष चौकन्ना हो गया क्योंकि कुस्तुन्तुनिया से बगदाद तक रेलवे लाइन का बसरा तक विस्तार हो जाने पर जर्मनी का फारस की खाड़ी से सीधा सम्बन्ध हो जाता और उसके भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के लिए यह एक गम्भीर संकट होता।

(5) विलियम की ब्रिटिश-विरोधी नीति और फ्रांस तथा इंगलैण्ड में सन्धि—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जर्मनी और इंगलैण्ड के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। इंगलैण्ड को जर्मनी से प्रतिद्वंद्विता का भय न था। कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क ने भी ऐसा कोई कार्य नहीं किया था जिससे ब्रिटेन के साथ मनमुटाव पैदा हो। नौ-सेना का विकास करके उपनिवेश प्राप्त करने में उसे दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन बिस्मार्क के पद-त्याग के बाद विलियम ने ऐसी नीति पर चलना शुरू किया जिससे इंगलैण्ड, जर्मनी को अपना घोर शत्रु समझने लगा।

सन् 1894 से पूर्व तक दोनों देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बने रहे। सन् 1890 में दोनों पक्षों में एक सन्धि हुई जिसके अनुसार जर्मनी ने जंजीबार पर ब्रिटेन के संरक्षण और मिस्र की सीमा तक फैले हुए नील नदी के ऊपरी मैदान पर ब्रिटिश प्रभाव को मान्यता प्रदान करदी। इंगलैण्ड ने बदले में हेलिगोलैण्ड का द्वीप जर्मनी को वापस कर दिया। वास्तव में यह सन्धि ब्रिटिश कूटनीति की विजय थी क्योंकि ब्रिटेन के लिए पूर्वी अफ्रीका में वह एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। विलियम द्वितीय ने हेलिगोलैण्ड द्वीप की प्राप्ति में अपनी कूटनीतिक सफलता समझी, किन्तु बिस्मार्क ने इस सौदे की कठोर आलोचना की। उसका तर्क था कि जर्मनी इस द्वीप को बिना इतनी कीमत चुकाये भी प्राप्त कर सकता था।

विलियम द्वितीय ब्रिटेन के प्रति समय-समय पर अपनी 'प्रगाढ मैत्री' प्रदर्शित करता रहा। वैसे दोनों में रक्त सम्बन्ध भी था क्योंकि जर्मन सम्राट विलियम प्रथम के पुत्र फ्रैडरिक का विवाह ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की पुत्री से हुआ था। इस प्रकार विलियम द्वितीय साम्राज्ञी विक्टोरिया का नाती था। सन् 1890 में और तत्पश्चात् 1891 में विलियम ने अपने भाषणों में स्वयं को साम्राज्ञी विक्टोरिया का नाती बतलाते हुए दोनों देशों में ऐतिहासिक मैत्री बनाये रखने का वादा किया। सन् 1893 में जर्मन चान्सलर ने कहा कि जर्मनी की नीति धीरे-धीरे इंगलैण्ड को औपचारिक रूप से त्रिगुट अथवा त्रिमुखी-संगठन (Triple Alliance) में ले आने की है। सन् 1893 के समाप्त होते ही दोनों देशों के बीच कीलिमन्जारो तथा केमरून प्रदेश के सम्बन्ध में शान्तिपूर्ण समझौता हुआ तथा टागोलैण्ड की सीमा भी मैत्रीपूर्ण ढंग से निर्धारित करदी गई।

पर दोनों देशों में यह मैत्रीभाव ऊपरी था। इंगलैण्ड भीतर ही भीतर जर्मन सम्राट से आशंकित था और जर्मनी में भी इंगलैण्ड के लिए कोई वास्तविक

सहानुभूति नहीं थी। शीघ्र ही दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ शुरू हो गया। गूच (Gooch) के अनुसार "1894 में ब्रिटिश-जर्मन सम्बन्ध अन्धकारपूर्ण होने लगे और विलियम द्वितीय के शासनकाल के आरम्भिक अच्छे सम्बन्ध तथा आपसी विश्वास का पुनः लौटना असम्भव हो गया।" अफ्रीका के विभाजन पर दोनों ही देशों में खटक गई। 1894 में ब्रिटेन ने कांगो-फ्री-स्टेट के साथ सन्धि करके वहर-उल-गजल का प्रदेश वेल्जियम को दे दिया तथा बदले में टांगानिका के पश्चिम का प्रदेश हथिया लिया। ब्रिटेन की यह कार्यवाही कांगो-जर्मन सन्धि पर आघात थी। जर्मनी के विरोध करने पर ब्रिटेन ने टांगानिका के पश्चिम की पट्टी छोड़ दी, किन्तु इस घटना से दोनों ही देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ शुरू हो गया। टर्की के प्रश्न पर दोनों देशों में पहले से ही मतभेद था। इंगलैण्ड का विश्वास था कि टर्की का सुधार नहीं हो सकता, अतः उसका बंटवारा हो जाना चाहिए। इसके विपरीत जर्मन-नीति टर्की को अखण्ड बनाये रखने की थी। सुदूर पूर्व में अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के लिए विलियम टर्की के साथ दोस्ती निभाना चाहता था। सन् 1896 में एक घटना से दोनों देशों में मनमुटाव हो गया। दक्षिण अफ्रीका के मामले में ब्रिटेन और जर्मनी एक दूसरे के जबरदस्त विरोधी थे और स्थिति यह थी कि दोनों में कभी भी टक्कर हो सकती थी। जब दिसम्बर, 1895 में जेमसन की सैनिक टुकड़ी ट्रांसवाल पर आक्रमण के लिए बढ़ी तो जर्मन राजदूत ने ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दी कि यह कार्यवाही बर्दाश्त नहीं की जायेगी। सौभाग्यवश आक्रमण विफल कर दिया गया। इस पर विलियम द्वितीय ने ट्रांसवाल के राष्ट्रपति क्रूगर (Cruger) को बधाई का तार भेजा। राष्ट्रपति के धन्यवाद के उत्तर में विलियम द्वितीय ने यह निश्चय दोहराया कि जर्मनी ब्रिटेन द्वारा ट्रांसवाल को रौंदा नही जाने देगा। क्रूगर को भेजे गये तार से इंगलैण्ड को जर्मनी का प्रच्छन्न शत्रुता का पूरा-पूरा पता चल गया। ब्रिटिश समाचार-पत्र मार्निंग पोस्ट (Morning Post) ने चेतावनी दी कि ब्रिटिश राष्ट्र इस तार को कभी भी नहीं भूलेगा और भविष्य में अपनी नीति पर पुनर्विचार करते समय इसे सदैव ध्यान में रखेगा। सन् 1899 में लार्ड सेलिसबरी ने कहा कि "ट्रांसवाल पर आक्रमण मूर्खता थी लेकिन विलियम का तार उससे भी बढ़कर मूर्खतापूर्ण कार्य था।"

इतना होने पर भी दोनों देशों के सम्बन्ध विशेष कटु नहीं हो पाये। इतिहासकार मोवेट के अनुसार क्रूगर का तार (Cruger Telegram) संभवतः जर्मन सम्राट की इच्छा के प्रतिकूल भेजा गया था और सम्राट ने निजी तौर पर स्पष्टीकरण करके स्थिति को सुधार लिया। इंगलैंड भी उस समय तक अकेला पड़ रहा था, अतः जर्मनी से मेल बनाये रखना चाहता था। फलस्वरूप 1898 में अफ्रीका के बारे में और 1899 में सेमोआ के सम्बन्ध में दोनों देशों में समझौते भी हुए। इंगलैंड का फ्रांस से फशोदा (Fashoda) के मामले पर कटु विरोध था और चीन में रूसी घुसपैठ को लेकर रूस से भी उसकी अनबन थी। त्रिगुट अथवा त्रिमुखी संगठन (Triple

Alliance) के देश इंगलैंड को फ्रांस और रूस के विरुद्ध सहायता करते थे, अतः जर्मनी और इंगलैंड में गंभीर मतभेदों के बावजूद निकटता थी।

दुर्भाग्यवश जर्मनी अपनी शत्रुता जाहिर करने में अधिक संयम से काम नहीं ले सका। 1899 में ब्रिटिश उपनिवेश मंत्री जोसफ चेम्बलेन ने इंगलैण्ड, जर्मनी और संयुक्त राज्य के एक त्रिगुट का प्रस्ताव रखा, किन्तु इस पर जर्मनी की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। 1900 में ब्यूलो जर्मन-चान्सलर बना। उसने ब्रिटिश प्रस्ताव को न केवल ठुकरा दिया वरन् यह भी कह दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय--राजनीति में केवल इंगलैण्ड ही ऐसा देश है जिससे जर्मनी को हिसाब करना है। जर्मन चान्सलर का मत था कि औपनिवेशिक, व्यापारिक और नाविक प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप कभी न कभी दोनों देशों में युद्ध छिड़कर रहेगा।

ब्रिटिश विरोधी जर्मन कूटनीति ने इंगलेंड को बाध्य कर दिया कि वह अपना 'एकान्तवास' त्याग कर शीघ्रातिशीघ्र दूसरे विश्वसनीय मित्र ढूंढे। अतः सर्वप्रथम उसने 1902 में जापान के साथ मैत्री संधि करली ताकि रूस पर अंकुश रखा जा सके। इसके बाद वह फ्रांस की ओर उन्मुख हुआ। दोनों देशों के बीच सभी विवाद निपटा लिए गए और 1904 में दोनों ने मैत्री संधि करली। यदि जर्मनी इंगलेंड के प्रति शत्रुभाव प्रदर्शित नहीं करता तो जापान और फ्रांस जैसे परम्परागत शत्रुओं से ब्रिटिश मैत्री कायम नहीं हो पाती। इंगलेंड और फ्रांस का 1904 का समझौता तो अपने समय की एक महान् 'कूटनीतिक क्रांति' थी, जिसने न केवल दो शत्रुओं को आपस में मिला दिया बल्कि ब्रिटिश-रूस तनावों को भी शिथिल कर दिया। फ्रांस और रूस में पहले से ही संधि थी, अतः जब फ्रांस और इंगलेंड में मित्रता हो गयी तो रूस और इंगलेंड के सम्बन्ध भी सुधर गए। पेरिस स्थित रूसी राजदूत ने कहा "हमारे मित्रों के मित्र हमारे भी मित्र हैं। कौन यह कह सकता है कि यह बात सत्य नहीं होगी ?" रूसी राजदूत की भविष्यवाणी तब फलीभूत हुई जब 1907 में रूस के साथ भी इंगलेंड की मैत्री सन्धि हो गई। अब जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय को भय हो गया कि आस्ट्रिया, इटली और जर्मनी का त्रिगुट (Triple Alliance) फ्रांस, रूस तथा इंगलेंड की त्रिमुखी मैत्री (Triple Entente) का मुकाबला नहीं कर सकेगा। उसे यह अनुभव होने लगा मानों जर्मनी अकेला पड़ता जा रहा था और शत्रु उसे चारों ओर से घेर रहे थे। अतः अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए वह आस्ट्रिया के और भी निकट आ गया तथा टर्की को अपना घनिष्ठ मित्र बनाने का प्रयत्न करने लगा। विलियम इस ओर भी सक्रिय हुआ कि येन-केन-प्रकारेण शत्रुओं की मैत्री भंग हो जाए।

(6) **आस्ट्रिया का समर्थन**—सम्पूर्ण मध्य यूरोप में उत्तरी सागर से कालासागर तक जर्मनी का प्रभाव स्थापित करने के लिए विलियम द्वितीय ने बाल्कान के मामलों में आस्ट्रिया का पक्ष लिया।

(7) **चीन के प्रति नीति**—विलियम ने सुदूरपूर्व में जर्मन अधिकार क्षेत्र बढ़ाने के लिए चीन–जापान युद्ध की आड़ ली। उसने फ्रांस और रूस को अपनी तरफ मिला कर जापान को दबाया और चीन को इस ढंग से खुश किया कि चीन जर्मनी को अपना मित्र समझे। भाग्यवश उस समय चीन में दो जर्मन मिशनरी मारे गए। विलियम ने चीन से हर्जाना मांगा और चीन को दबाने की जोरदार नीति अपनायी। फल यह हुआ कि चीन ने डरकर जर्मनी से सन्धि की और 'कियाचुओ' का बन्दरगाह 11 वर्ष के लिए जर्मनी को सौंप दिया। इस सन्धि से जर्मनी को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह अपनी अधिकृत भूमि में किले-बन्दी करे, शासन करे, रेलवे बनाए और अपनी पूंजी का उपयोग करे। इस बन्दरगाह से सुदूरपूर्व में जर्मनी का नाविक केन्द्र स्थापित हो गया लेकिन इस संधि से विलियम ने इंगलैंड, फ्रांस और जापान के वैमनस्य की आग को अधिक भड़का दिया।

(8) **मोरक्को के मामले में हस्तक्षेप**—फ्रांस मोरक्को में अपना स्वामित्व स्थापित कर रहा था। विलियम द्वितीय ने वहां भी बाधा उपस्थित की। इस प्रश्न पर भी जर्मनी को असफलता मिली। नवम्बर, 1911 की जर्मन-फ्रांस संधि के अनुसार मोरक्को पर फ्रांस का संरक्षण पूर्वत् बना रहा।

विलियम द्वितीय ने अपनी हस्तक्षेप और स्वेच्छाचारी नीति द्वारा सम्पूर्ण यूरोप में विरोध की भावना पैदा कर दी। विश्व राजनीति में वह एक असफल खिलाड़ी सिद्ध हुआ। उसका सैनिकवाद यूरोप को महा-युद्ध की ओर ढकेलता गया। अन्त में आस्ट्रिया के युवराज की हत्या से (जून, 1914) सर्विया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई जिससे महायुद्ध छिड़ गया। रूस सर्विया के पक्ष में और जर्मनी आस्ट्रिया के पक्ष में युद्ध में कूद पड़े। शीघ्र ही यह स्थानीय युद्ध महायुद्ध में परिणित हो गया।

फ्रांस का तृतीय गणतन्त्र एवं इंगलैण्ड की विदेश नीति

(1871–1914)

"फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र का इतिहास फ्रांस को उस अन्धकारमय गड्ढे से निकालने के प्रयास का इतिहास है, जिसमें नेपोलियन तृतीय ने उसे ढकेल दिया था। इसके लिए गणतन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना हुई और उन्हें भीतरी एवं बाहरी शत्रुओं से बचाने के प्रयास हुए।"

अस्थाई गणतन्त्रीय सरकार

'सेडान' में 2 सितम्बर, 1870 को सम्राट नेपोलियन तृतीय के आत्म-समर्पण के दो दिन बाद ही पेरिस में गेम्बेटा के द्वारा 'तृतीय गणतन्त्र' की घोषणा हुई। एक अस्थायी सरकार की स्थापना हुई, जिसने युद्ध के अन्त तक शासन किया। जर्मनी के साथ होने वाली सन्धि की पुष्टि करने के लिए एक राष्ट्रीय सभा बनाई गई जिसने तियेर अथवा थीयर्स (Thiers) को कार्यपालिका का प्रधान चुना। भावी सरकार का स्वरूप निश्चित करने का कार्य राष्ट्र पर छोड़ दिया गया।

फ्रेंकफुर्ट की सन्धि

तियेर (Thiers) ने जर्मनी के साथ फ्रेंकफुर्ट की सन्धि की। यह सन्धि 10 मई, 1871 को हुई। इसके अनुसार फ्रांस को अपने दो समृद्धिशाली प्रान्तों—अलसेस और लोरेन से हाथ धोना पड़ा। फ्रांस के मेत्ज और स्ट्रोसबर्ग के प्रसिद्ध दुर्गों पर जर्मनी का अधिकार कायम हुआ। इसके अतिरिक्त क्षतिपूर्ति के रूप में बहुत बड़ी रकम जर्मनी को देना निश्चय हुआ।

गृह-युद्ध का प्रारम्भ

फ्रांस-प्रशा युद्ध में फ्रांस की पराजय, और पराजय के बाद की परिस्थितियों के कारण गृह-युद्ध की आग एक बार फिर भड़क उठी। यह गृह-युद्ध डेढ़ महिने से भी अधिक समय तक चला। सरकार और पेरिस की जनता के बीच उग्र मतभेद

ने सक्रिय विरोध का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप सरकार और पैरिस के लोगों में जोरदार संघर्ष हुआ।

संघर्ष के कारण—इस संघर्ष के कई कारण थे—

(i) जब जर्मन सेना ने पैरिस को घेर रखा था तो पैरिस वालों ने नगर के शासन का संचालन करने के लिए एक नगर-सभा बनाई जिसे कम्यून कहा गया। इस कम्यून में उग्र विचारों के गणतन्त्रवादी और समाजवादी थे; दूसरी ओर राष्ट्रीय सभा में राजतन्त्रवादियों का जोर था। अतः पैरिस के गणतन्त्रवादियों को भय हुआ कि राष्ट्रीय सभा फ्रांस में पुनः राजतन्त्र की स्थापना कर देगी।

(ii) पैरिस वालों की शंका तब और भी बढ़ गई जब राष्ट्रीय सभा ने भविष्य में अपने अधिवेशन पैरिस के बजाय वर्साय में करने का निर्णय किया। इसे पैरिस की जनता ने अपने प्रति अविश्वास समझा।

(iii) आर्थिक कारणों से भी पैरिस वाले राष्ट्रीय सभा से नाराज हो गये। जर्मनी के घेरे के दौरान पैरिस के लोगों की आर्थिक हालत बड़ी खराब हो गई। वे मकानों का किराया अदा नहीं कर सके। वे कर्जदार हो गये। शांति स्थापित होने के बाद पैरिस वालों ने राष्ट्रीय सभा से मांग की कि उनकी हालत न सुधरने तक किराया और ऋण की अदायगी स्थगित रखी जाए, पर राष्ट्रीय सभा ने मांग ठुकराते हुए यह आदेश जारी कर दिया कि किराया और कर्ज 48 घण्टे के भीतर अदा कर दिया जाए। फलस्वरूप लोगों में घोर असन्तोष छा गया।

(iv) राष्ट्रीय सभा ने उन लोगों को छोड़कर जिन्हें दरिद्र होने के प्रमाण-पत्र दिये गये थे, शेष सभी व्यक्तियों को राष्ट्रीय सेना (National Guard) से हटा दिया। पैरिस के अधिकांश व्यक्ति इस सेना में थे। अब ये सब बेकार हो गये।

इन सब कारणों से पैरिस वाले राष्ट्रीय सभा से बड़े रुष्ट हो गये। केवल एक चिंगारी ही विस्फोट के लिए बाकी रह गई जिसे प्रकट होने में देर नहीं लगी। पैरिस की राष्ट्रीय सेना ने राष्ट्रीय सभा से नागरिक और गणतन्त्र की रक्षा करने के लिए कुछ तोपें ले जाकर एक स्थान पर रखीं। सरकार ने समझा कि पैरिस वाले विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं। अतः सरकार ने इन तोपों को छीनने की कोशिश की (18 मार्च, 1871)। इस पर सरकारी सैनिकों और राष्ट्रीय सभा के सैनिकों में लड़ाई छिड़ गई। देखते-देखते पैरिस भर में विद्रोह फैल गया। स्थिति तेजी से बिगड़ती गई।

पैरिस का घेराव एवं खूनी सप्ताह—2 अप्रैल, 1871 को सरकारी सेना ने पैरिस को घेर लिया। सरकारी सेना और पैरिस की सेना में एक माह 19 दिन तक जम कर युद्ध हुआ। यह गृह-युद्ध विदेशी युद्धों से भी अधिक भयंकर था। अन्त में 21 मई, 1871 को सरकारी सेनायें पैरिस में घुस गई। इसके बाद एक सप्ताह तक परिस के भीतर सड़कों और गलियों में घमासान संघर्ष हुए। इस सप्ताह को

फ्रांस के इतिहास में 'खूनी सप्ताह' कहा जाता है। 28 मई को सरकारी सेना ने विद्रोह को अन्तिम रूप से कुचल दिया। लगभग 17 हजार पैरिसवासियों को जान से हाथ धोना पड़ा। लगभग 43 हजार व्यक्ति जेलों में ठूंसे गये। हजारों व्यक्तियों को फ्रांस से बाहर भेज दिया गया।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण

पैरिस के विद्रोह को कुचलने के बाद तियेर की अंतरकालीन सरकार ने देश के पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया। तियेर ने दो बार ऋण लेकर दो वर्ष के अन्दर ही (सितम्बर 1873 तक) जर्मनी का सारा हर्जाना चुका दिया। फलस्वरूप जर्मन सेना निर्धारित समय से पहले ही फ्रांस से लौट गई। तियेर को 'देश उद्धारक' की उपाधि से विभूषित किया गया।

तियेर ने दो और भी महत्वपूर्ण कार्य किये। पहला कार्य था शासन के विकेन्द्रीयकरण की दिशा में स्थानीय शासन का पुनर्संगठन। दूसरा कार्य था प्रशा के ढंग पर सेना की पुनर्व्यवस्था। 1872 में एक कानून द्वारा सबके लिए 5 वर्ष की सैनिक सेवा अनिवार्य करदी गई। विविध प्रकार से फ्रांस की सैनिक शक्ति को सुधारा गया। किलों की मरम्मत करवाई गई और जर्मनी की ओर नई सीमा की किलेबन्दी की गई। रेलों, पुलों और इमारतों का भी पुनर्निर्माण किया गया।

तृतीय गणतन्त्र की स्थापना

एक और विकट समस्या तियेर को हल करनी थी। यह समस्या स्थानीय शासन के स्वरूप की थी। तियेर की सरकार का स्वरूप गणतन्त्रीय था, तियेर फ्रांस का राष्ट्रपति था, लेकिन प्रतिनिधि सभा में राजतन्त्रवादियों का बहुमत था। काफी खींचतान के बाद राजतन्त्रवादियों ने तियेर को राष्ट्रपति पद से हटाने का निश्चय किया। मई, 1873 में तियेर के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार किया गया। तियेर ने इस्तीफा दे दिया। प्रतिनिधि सभा ने मार्शल मेकमोहन को राष्ट्रपति चुना ताकि राजतन्त्र की पुनर्स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सके, पर राजतन्त्रवादी सफलता के निकट पहुंच कर भी आपसी फूट से बाजी हार गये। उग्र गणतन्त्रवादियों के नेता गैम्बेटा के धुंआधार प्रचार और प्रभावशाली तर्कों के कारण देश में गणतन्त्र का पक्ष प्रबल पड़ता गया। अन्तिम परिणाम यह निकला कि 29 जनवरी, 1875 को प्रतिनिधि सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार करके फ्रांस में गणतन्त्र की स्थापना करदी। मजा यह रहा कि यह प्रस्ताव मार्शल मेकमोहन की अध्यक्षता में ही स्वीकृत हुआ जो पक्का राजसत्तावादी था।

तृतीय गणतन्त्र का संविधान—तृतीय गणतन्त्र का संविधान बनाया गया। नवीन संविधान में यह व्यवस्था हुई कि राष्ट्रपति का चुनाव 7 वर्ष के लिए किया जायेगा। संसद के दो सदन होंगे—प्रतिनिधि सभा (Chamber of Deputies) और सीनेट (Senate)। प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन चार वर्ष के लिए वैस्यक

मताधिकार के आधार पर होगा और सीनेट का अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की संख्या 610 रखी गई और सीनेट की 300। सीनेट के 75 सदस्यों का निर्वाचन जीवन भर के लिए स्वयं राष्ट्रीय सभा ने किया। शेष 225 के लिए डिपार्टमेण्टों तथा उपनिवेशों में निर्वाचक-मण्डलों द्वारा 9 वर्ष के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन निश्चित हुआ। राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया कि वह सीनेट की अनुमति से 4 वर्ष की अवधि के पूर्व भी प्रतिनिधि-सभा को भंग कर सकेगा। सीनेट और प्रतिनिधि सभा—दोनों की संयुक्त सभा को राष्ट्रीय सभा (National Assembly) कहा गया। उसे राष्ट्रपति के निर्वाचन और संविधान में संशोधन का अधिकार मिला।

स्थाई तृतीय गणतन्त्र

नये संविधान के अधीन जो चुनाव हुए उसमें गणतन्त्र दल के 360 और राजतन्त्रवादी दलों के 160 सदस्य चुने गये। प्रतिनिधि सभा में गणतन्त्रवादियों का विशाल वहुमत होने के वावजूद राष्ट्रपति मेकमोहन ने निरंकुश राजा की तरह शासन करने की कोशिश की। इस पर प्रतिनिधि सभा भी विरोध करने पर तुल गई। मेकमोहन ने 1877 में सभा को भंग कर दिया। नई सभा में भी गणतन्त्र-वादी वहुमत में आये। एक वर्ष वाद सीनेट में भी गणतन्त्र दल का वहुमत हो गया। अन्त में मेकमोहन ने 30 जनवरी, 1879 को राष्ट्रपति पद से इस्तीफा दे दिया।

इसके तुरन्त वाद ही प्रतिनिधि सभा और सीनेट की संयुक्त वैठक (राष्ट्रीय सभा) में गणतन्त्र-दलीय उम्मीदवार जूल्स ग्रेवी (Jules Grevy) को राष्ट्रपति चुन लिया गया। इससे फ्रांस में गणतन्त्र की जड़ें वहुत मजवूत हो गईं।

सन् 1883 में व्यवस्थापिका ने कानून पास किया कि भविष्य में कभी भी शासन के गणतन्त्रवादी स्वरूप में संशोधन नहीं किया जाएगा। 1884 में कानून पास हुआ कि राज–परिवार के सदस्य या सम्वन्धी राष्ट्रपति पद के लिए अयोग्य समझे जाएंगे। इन कानूनों द्वारा गणतन्त्र को हमेशा के लिए स्थायी वना दिया गया। 1945 तक इसी विधान के अनुसार फ्रांस का शासन संचालित होता रहा।

तृतीय गणतन्त्र के सुधार कार्य

गणतन्त्रीय सरकार ने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए 1879 के तुरन्त वाद ही सुधार-कार्यों पर ध्यान देना शुरू कर दिया। 1880 में फ्रांस की राजधानी वर्साय से हटाकर पुनः पैरिस में स्थापित की गई। फ्रेंच संस्थाओं को गणतन्त्रीय तथा धर्म-निरपेक्ष रूप दिया गया। 14 जुलाई का दिन राष्ट्रीय पर्व घोषित किया गया। 1881 में सुधार के अनेक कार्य किये गये। हर नागरिक को भाषण, लेखन और मुद्रण की स्वतन्त्रता दी गई। लोगों को एकत्र होने और सभाएं करने की स्वतन्त्रता मिली। मजदूरों के विरुद्ध वनाये गये कानून रद्द कर दिये गये। अपना

संगठन (Trade Unions) बनाने की भी स्वतन्त्रता मजदूरों को दे दी गई। सरकारी शिक्षालय स्थापित किये गये। सन् 1882 में अनिवार्य शिक्षा प्रणाली लागू की गई। प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य करदी गई। पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा बन्द करदी गई। शिक्षा का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रखा गया। शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा बन्द करदी गई। वास्तव में सार्वजनिक शिक्षा की यह व्यवस्था तृतीय गणतन्त्र का एक महान् और रचनात्मक कार्य था। नगर-पालिकाओं के संगठन में भी सुधार किये गये। इस तरह तृतीय गणतन्त्र में फ्रांस का सर्वतोमुखी विकास होने लगा।

गणतन्त्र के संकट और उनका समाधान

यद्यपि तृतीय गणतन्त्र में स्थिरता आ चुकी थी तथापि उसे पूर्णतया सुरक्षित नहीं कहा जा सकता था। सन् 1883 से 1885 तक फेरी मन्त्रिमण्डल ने गणराज्य के सम्मान को बढ़ाया। फेरी ने हिन्द-चीन का विस्तार किया। इसके अतिरिक्त उसने गणराज्य को स्थायी करने के लिए कुछ कानून पास किये जो ऊपर बताये जा चुके हैं। 1885 में फेरी के पतन के बाद फ्रांस की राजनीतिक स्थिति एक बार पुनः अनिश्चित हो गई, लेकिन फिर 1886 में उन परिवारों के सदस्यों को निष्कासित कर दिया गया जिन्होंने कभी फ्रांस में शासन किया था। इस तरह राजतन्त्रवादियों की फिर से सत्ता हथियाने की आशा समाप्त हो गई।

तृतीय गणतन्त्र को अपनी स्थापना के बाद सबसे विकट तीन संकटों का सामना करना पड़ा—

1. बुलेंगिस्ट आन्दोलन (Boulangist Movement),
2. ड्रेफस का मामला (Drefus Case), तथा
3. चर्च के साथ संघर्ष।

(1) **बुलेंगिस्ट आन्दोलन**—सन् 1886 में ही युद्ध विभाग के मन्त्री जनरल बुलेंगर (Boulanger) का निरंकुश शासन कायम करने के लिए 'बुलेंगिस्ट आन्दोलन' शुरू हुआ। बुलेंगर ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए यह नारा लगाया कि फ्रांस को जर्मनी से बदला लेना चाहिए। इसे ही बुलेंगिस्ट आन्दोलन कहा गया। इसका ध्येय था संसदीय पद्धति को समाप्त करना। समाचार-पत्रों ने आन्दोलन का समर्थन किया। बुलेंगर का प्रभाव बढ़ता गया। इसी बीच 1887 में गणतन्त्र के राष्ट्रपति ग्रेवी ने त्याग-पत्र दे दिया। अब बुलेंगर और भी प्रभावशाली हो गया। उसने सैनिकों की सहानुभूति प्राप्त की और फिर पेरिस की भीड़ को अपनी ओर किया। 1889 की जनवरी में वह पेरिस के निर्वाचन-क्षेत्र से प्रतिनिधि सभा के लिए खड़ा हुआ और विशाल बहुमत से विजयी हुआ।

बुलेंगर के तौर-तरीकों को देखकर गणतन्त्र के नेता चिन्तित हो गये। दोनों नैपोलियनों ने पहले किस तरह सत्ता हथियायी थी, उसे वे भूले नहीं थे। अतः सरकार ने दृढ़ता से काम लिया। राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र करने के अभियोग में

बुलेंगर को गिरफ्तार किये जाने के आदेश निकाल दिये गये। बुलेंगर का सारा जोश-खरोश काफूर हो गया। वह बेल्जियम भाग गया जहां दो वर्ष बाद 1891 में उसने आत्महत्या करली। कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि लम्बी-चौड़ी डींग हांकने वाला जनरल इतना डरपोक होगा। बुलेंगर-काण्ड का परिणाम यह हुआ कि गणतन्त्र की जड़ें और मजबूत हो गयीं। राजतन्त्रवादी बदनाम हो गये। उनका फ्रांस में राजतन्त्र की पुनर्स्थापना का स्वप्न चूर-चूर हो गया।

(2) ड्रेफस का मामला—गणतन्त्र को 1894 में एक और संकट का सामना करना पड़ा जिसे ड्रेफस काण्ड (Drefus Case) कहते हैं।

अल्फ्रेड ड्रेफस नामक एक यहूदी फ्रांस की सेना में कप्तान था। उसे यहूदी विरोधी भावना का शिकार बनाया गया। अक्टूबर, 1894 में उसे एकाएक कैद कर लिया गया। उस पर यह दोष लगाया गया कि उसने धन लेकर कुछ महत्वपूर्ण सैनिक-भेद जर्मनी को बतला दिये। कप्तान ड्रेफस गणतन्त्रवादी था जिसे राजतन्त्र-वादियों और कुछ कैथोलिकों तथा अफसरों ने फंसवा दिया। सजा काटने के लिए उसे अमेरिका के फ्रेन्च गाइना के पास स्थित डेविल द्वीप भेज दिया गया।

कर्नल पिकार्ड की खोज और ड्रेफस-काण्ड पर पुनर्विचार की मांग—सन् 1896 में गुप्त विभाग के अध्यक्ष कर्नल पिकार्ड को पता चला कि जिस लिखित सबूत के आधार पर ड्रेफस को सजा दी गई थी वह जाली था। पिकार्ड ने सरकार को सूचना दे दी, किन्तु सरकार ने अपनी और सेना की प्रतिष्ठा के ख्याल से मामले पर फिर से विचार करना उचित नहीं समझा। मामले को दबाने के लिए पिकार्ड को सेना के साथ ट्यूनिस और अल्जीरिया भेज दिया गया तथा उसकी जगह कर्नल हेनरी को नियुक्त किया गया।

पर बात फैल गई। फ्रांस की जनता ड्रेफस-काण्ड पर पुनर्विचार की मांग करने लगी। इसी बीच मेलीन मन्त्रिमण्डल के स्थान पर ब्रिस्सन के नेतृत्व में एक नया मन्त्रि-मण्डल बना। जनरल केवेन्यू युद्ध मन्त्री नियुक्त हुआ। केवेन्यू ने प्रतिनिधि सभा में तीन ऐसे नये सबूत पेश किये जिनसे ड्रेफस अपराधी सिद्ध होता था। इन नये सबूतों के आधार पर प्रतिनिधि सभा को ड्रेफस के अपराधी होने का पूर्ण विश्वास हो गया।

ड्रेफस-काण्ड पर पुनर्विचार और ड्रेफस निर्दोष घोषित—किन्तु मामला ठण्डा नहीं पड़ा। कर्नल पिकार्ड ने युद्ध मन्त्री को लिखा कि आपने जो तीन सबूत पेश किये हैं, उनमें से दो ड्रेफस-काण्ड से सम्बन्धित नहीं हैं और एक जाली है। उसी समय एक सनसनीपूर्ण बात और हुई। कर्नल हेनरी ने यह स्वीकार कर लिया कि उसने यह जाली सबूत तैयार किया था जिसे पिकार्ड ने जाली बतलाया था। इसके बाद ही कर्नल हेनरी ने आत्महत्या करली और केवेन्यू ने इस्तीफा दे दिया। अगस्त, 1899 में ड्रेफस काण्ड पर पुनर्विचार हुआ। छोटे न्यायालय ने सरकारी प्रभाव से ड्रेफस को अपराधी ठहराया, पर फ्रेंच राष्ट्रपति ल्यूबेट ने अपने क्षमा अधिकार के अन्तर्गत ड्रेफस को क्षमा कर दिया।

जेल से बाहर आने पर ड्रेफस और उसके समर्थकों ने मांग की कि सर्वोच्च न्यायालय स्वयं ड्रेफस के मामले पर विचार करे। मामला सर्वोच्च न्यायालय में गया। सर्वोच्च न्यायालय मामले की अच्छी तरह छानबीन करके 12 जुलाई, 1906 को ड्रेफस को निर्दोष घोषित कर दिया। सरकार ने ड्रेफस को सेना में पहले से अच्छा पद दिया और कर्नल पिकार्ड की भी पदोन्नति की।

ड्रेफस काण्ड का महत्व—ड्रेफस-काण्ड का विशेष महत्व यह है कि यह मामला प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्तों का प्रतिरूप बन गया। ड्रेफस के निर्दोष सिद्ध होने से गणतन्त्र विरोधी तत्व बदनाम हो गये। उन्हें मुंह की खानी पड़ी। इसके अतिरिक्त ड्रेफस कांड से सैनिक सत्ता पर राजनीतिक सत्ता की विजय सिद्ध हुई। ड्रेफस की सफलता से सैन्यवाद और पादरीवाद को भारी धक्का लगा।

(3) राज्य और चर्च का संघर्ष—ड्रेफस के मामले ने यह सिद्ध कर दिया कि पादरी गणतन्त्र के विरोधी हैं।

संघ कानून—सन् 1901 में फ्रेंच गणतन्त्र के तत्कालीन प्रधानमन्त्री वेल्टपे रूसो ने एक कानून बनवाया जिसे संघ-कानून (Law of Association) कहते हैं। इस कानून द्वारा प्रत्येक धार्मिक संस्था के लिए सरकार से अधिकार-पत्र प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया। जिस संस्था ने सरकारी अधिकार-पत्र न लिया हो अथवा जिस संस्था को सरकार ने अधिकार न दिया हो, ऐसी संस्था का कोई सदस्य न तो शिक्षालय खोल सकता था और न शिक्षा का कार्य ही कर सकता था।

इस कानून का परिणाम यह हुआ कि बहुत सी धार्मिक संस्थायें और लगभग 10 हजार धार्मिक विद्यालय बन्द हो गये। कैथोलिक पादरियों के हाथ से शिक्षा का नियन्त्रण निकल गया।

शिक्षा पर राज्य का एकाधिकार—सन् 1904 में एक और कानून बना दिया गया। इस नये कानून के अनुसार सभी धार्मिक संस्थाओं को (स्वीकृत संस्थाओं को भी) 10 वर्ष के अन्दर शिक्षण-कार्य बन्द कर देने का आदेश दिया गया। इस कानून के फलस्वरूप शिक्षा पर राज्य का एकाधिकार हो गया।

पृथक्करण कानून—इसके बाद सन् 1905 में सरकार ने पृथक्करण कानून (Act of Separation) बनाया। इस कानून द्वारा चर्च को राज्य से पृथक कर दिया गया। राज्य की ओर से पादरियों को नियुक्त करना और उन्हें वेतन दिया जाना बन्द कर दिया गया। धार्मिक संस्थाओं की चल और अचल सम्पत्ति के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक जिले में 'उपासना समिति' (Association of Worship) कायम की गई जिसमें पादरी सदस्य नहीं हो सकते थे। इस कानून द्वारा चर्चों और पादरियों के निवास-स्थानों को छोड़कर चर्च की अन्य सब जायदाद पर सरकार ने कब्जा कर लिया।

पोप का विरोध और दंगे-फसाद—चर्च ने सरकार की इस नीति का घोर विरोध किया। तत्कालीन पोप पायस दशम् ने पृथक्करण कानून को धर्म के अधिकारों

का उल्लंघन बतला कर फ्रांस की कैथोलिक प्रजा को उसे ठुकरा देने का आदेश दिया। पादरी नये कानून के विरोध में मरने-मारने को उतारू हो गये। दो वर्ष तक फ्रांस में दंगे-फसाद होते रहे।

स्थिति का सुलझना—स्थिति को सुलझाने के लिए और कैथोलिकों को शांत करने के लिए सन् 1907 में एक नया कानून बनाया गया। इसके द्वारा कुछ रियायतें दी गयी। जिन जिलों में उपासना-समितियां नहीं बनी थीं उन जिलों से चर्चों और पादरियों के निवास स्थानों का प्रबन्ध करने का अधिकार पादरियों को दे दिया गया। यद्यपि पोप ने इस नये कानून का विरोध किया, लेकिन अब पादरियों ने सरकार का विरोध करना बन्द कर दिया।

महत्व—इस प्रकार चर्च और राज्य का पृथक्करण पूर्ण हो गया। चर्च का शिक्षा देने का अधिकार समाप्त हो जाने से पादरियों का राजनीतिक प्रभाव घट गया। गणतन्त्र फ्रांस ने राज्य-धर्म की सरकारी मान्यता की यूरोपीय परम्परा का अन्त कर दिया। फ्रांस के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण धार्मिक क्रांति थी।

तृतीय गणतन्त्र की अन्य सफलतायें

तृतीय गणतन्त्र ने उपरोक्त संकटों का सफलतापूर्ण सामना करने के साथ ही अन्य सफलतायें भी अर्जित की। गणतन्त्रीय सरकार ने देश की आन्तरिक स्थिति को ठीक करने का प्रयास किया। अन्य सामाजिक और समाजवादी प्रश्नों को भी निबटाया। श्रमिकों की दशा सुधारी गई। 1892 के अधिनियम द्वारा स्त्रियों के काम करने का समय निश्चित कर दिया गया। 13 वर्ष से कम आयु के बच्चों का कारखानों में काम करना निषिद्ध ठहरा दिया गया। मजदूरों के कार्य करने के 10 घंटे नियत कर दिये गये। मजदूरों और मालिकों के आपसी झगड़ों का फैसला करने के लिए दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों का बोर्ड बनाया गया। श्रमिकों और उनके परिवारों को चिकित्सा-सहायता देने का प्रबन्ध किया गया। श्रमिकों को और भी अनेक सुविधायें दी गईं।

इस प्रकार गणतन्त्रीय सरकार ने श्रमिक कल्याणकारी नियम बनाकर फ्रांस में अपने को लोकप्रिय बना दिया।

तृतीय गणतन्त्र द्वारा औपनिवेशिक विस्तार

तृतीय गणतन्त्र का काल औपनिवेशिक विस्तार की दृष्टि से फ्रांस के लिए महत्वपूर्ण रहा। जूलफेरी 1881 में और फिर 1883 से 1885 तक दो बार प्रधानमन्त्री बना। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रांसीसी साम्राज्य का नम्बर विस्तार के हिसाब से संसार में दूसरा हो गया। पहला नम्बर इंगलैंड के साम्राज्य का था।

अल्जीरिया पर फ्रांस का अधिकार लुई फिलिप के शासन-काल में ही हो चुका था। 1881 में फ्रांस के सैनिक बल से विवश होकर ट्यूनिस ने भी फ्रांस की संरक्षणता स्वीकार करली। फेरी ने इण्डो-चीन (एशिया) में भी औपनिवेशिक विस्तार किया। कम्बोडिया फ्रांस के संरक्षण में पहले ही था और इण्डो-चीन पर

भी फ्रांस का अधिकार पहले ही हो चुका था। फेरी के समय में टोन्किन की विजय और अनाम पर संरक्षणता की स्थापना की गई। इस तरह इन्डो-चीन को हथिया-लेने का काम पूरा हुआ। फेरी ने फ्रांसीसी कांगों की नींव डाली और मेडागास्कर पर अधिकार करने के लिए सेना भेजी।

फेरी का यह काम उनके उत्तराधिकारियों ने पूरा किया। सन् 1896 में मेडागास्कर पर फ्रांस का पूरा अधिकार हो गया। 1904 में मोरक्को फ्रांस के प्रभाव में आ गया। पश्चिमी अफ्रीका में सिनेगल, गिनी, डाहोमी, आइवरी कोस्ट और नाइजर प्रदेशों पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया। 1912 में मोरक्को को फ्रांस ने अपने साम्राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक फ्रांस ने विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य कायम कर लिया। इस साम्राज्य का क्षेत्रफल लगभग $2\frac{1}{2}$ लाख वर्ग मील था। दूसरे शब्दों में यह क्षेत्रफल फ्रांस का लगभग 14 गुना था। फ्रेंच साम्राज्य का अधिकांश भाग उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका में था। फ्रेंच साम्राज्य के प्रदेशों में अल्जीरिया और ट्यूनिसिया सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। अल्जीरिया को गणतन्त्रीय सरकार ने उपनिवेश न मान कर फ्रांस का ही एक भाग माना और यह व्यवस्था की कि फ्रांस के अन्य प्रान्तों की तरह अल्जीरिया भी फ्रेंच सीनेट और प्रतिनिधि सभा में अपने सदस्य भेजे।

तृतीय गणतन्त्र की विदेश-नीति

1871 से 1914 तक फ्रांस की विदेश नीति का एक ही मुख्य लक्ष्य रहा—महाद्वीप पर अपनी स्थिति सुदृढ़ की जाय और फ्रांस की परम्परागत महत्ता पुनः-स्थापित की जाय। तृतीय गणतन्त्र का जन्म बड़े संकट-काल में हुआ था। प्रशा-फ्रांस युद्ध के फलस्वरूप अलसेस और लोरेन के महत्वपूर्ण प्रान्त फ्रांस के हाथ से निकल गये थे। फ्रांस की जनता इन्हें वापस पाने के लिए छटपटा रही थी, लेकिन बिस्मार्क ने अपनी कूटनीति से फ्रांस को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अकेला बनाये रखा। फ्रांस ने आस्ट्रिया और हंगरी के साथ गुट बनाने की कोशिश की, पर बिस्मार्क ने उसका यह प्रयत्न भी विफल कर दिया। फ्रांस ने रूस के साथ गुट बनाने का प्रयत्न किया, लेकिन बिस्मार्क ने उसका यह प्रयत्न भी कामयाब नहीं होने दिया।

लेकिन 1890 में जर्मन चान्सलर बिस्मार्क के पतन के बाद स्थिति फिर पलटी। फ्रांस अकेले जर्मनी से बदला नहीं ले सकता था, अतः उसने यूरोप में अपने मित्र खोजना शुरू किया। बिस्मार्क के पतन से उसके लिए यह सम्भव हो गया।

फ्रांस–रूस (द्विगुट) मैत्री—फ्रांस ने सबसे पहले रूस और जर्मनी के मन-मुटाव से फायदा उठाया। 27 दिसम्बर, 1893 के दिन रूस और फ्रांस में एक मैत्री-सन्धि हुई जिसे द्वि-राज्य (Dual Alliance) कहते हैं। यह सन्धि एक क्रान्तिकारी घटना थी। इसके फलस्वरूप फ्रांस के एकाकी जीवन का अन्त हो गया। रूस ने फ्रांस को आश्वासन दिया कि यदि जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करेगा या जर्मनी

की सहायता से इटली फ्रांस पर आक्रमण करेगा तो रूस फ्रांस को मदद देगा। इसके बदले में फ्रांस ने प्रतिज्ञा की कि यदि रूस पर जर्मनी का या जर्मनी की सहायता से आस्ट्रिया का आक्रमण होगा तो वह रूस को मदद देगा।

इंगलैण्ड और फ्रांस में मित्रता—द्वि-राज्य संधि द्वारा अपनी स्थिति सुधारने के बाद फ्रांस ने इंगलैण्ड को अपने पक्ष में करने के प्रयत्न किये। दोनों देशों में मिस्र और मध्य अफ्रीका में पारस्परिक हितों को लेकर घोर विरोध था। यह विरोध इतना अधिक था कि 1898 में एक घटना को लेकर दोनों देश आपस में लड़ने को भी तैयार हो गये थे। यह घटना फशोदा काण्ड (Fashoda Incident) कहलाती है।

हुआ यह कि मिस्र में फशोदा नामक गांव पर 1898 में फ्रेंच सेना ने पश्चिमी अफ्रीका से आकर अधिकार कर लिया। इस पर इंगलैण्ड ने भी अपनी सेना भेज दी। सौभाग्यवश मुठभेड़ होने से बच गयी क्योंकि फ्रांसीसी वापिस लौट गये। लेकिन इस घटना से फ्रांस-इंगलैण्ड के सम्बन्ध और भी खराब हो गये।

पर फ्रांस और इंगलैण्ड अधिक समय तक परस्पर विरोधी नहीं रह सके। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से दोनों ही आपस में मैत्री चाहने लगे। फ्रांस के परराष्ट्र मन्त्री डेलकेस के प्रयत्नों से और इंगलैंड के राजा एडवर्ड सप्तम की बुद्धिमता के कारण फ्रांस और इंगलैंड के बीच 1904 में एक मैत्री सन्धि हो गयी जिसे 'कोर्डियाल समझौता' (Entente Cordiale) कहा गया। इस समझौते से दोनों देशों के बीच पुराने झगड़े तय हो गये। यह निश्चित हुआ कि मिस्र और सूडान में फ्रांस हस्तक्षेप नहीं करेगा और इंगलैंड मोरक्को में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह समझौता यूरोपीय इतिहास में एक कूटनीतिज्ञ क्रान्ति जैसा था।

त्रिराज्य मैत्री—1907 में रूस भी उक्त समझौते में शामिल हो गया। इस प्रकार जर्मनी के त्रिगुट के जवाब में फ्रांस, रूस और इंगलैंड का दूसरा त्रिगुट कायम हुआ। यह फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र की विदेश नीति की महान् सफलता थी।

मोरक्को संकट—1904 में इंगलैंड ने तो मोरक्को में फ्रांस की सत्ता स्वीकार कर ली लेकिन मोरक्को फ्रांस और जर्मनी में तनातनी का कारण बना रहा। जर्मनी ने चुनौती देते हुए कहा कि फ्रांस और इंगलैंड को अधिकार नहीं है कि वे उन स्थानों को आपस में बांट लें जहां यूरोप के अन्य राज्य भी अपने उपनिवेश बसाना चाहते हों। जर्मनी के हितों की इस प्रकार उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। इसके बाद सन् 1905 में जर्मन सम्राट केसर विलियम द्वितीय ने मोरक्को के नगर टेन्जियर की यात्रा की। सम्राट केसर ने घोषणा की कि मोरक्को का सुलतान स्वतन्त्र है और इस स्वतन्त्र सुलतान की भूमि पर सभी विदेशियों के अधिकार समान हैं तथा मोरक्को में जर्मनी के व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए सब कुछ किया जायेगा।

जर्मनी के इस रुख से अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा हो गया। इस संकट को दूर करने के लिये 1906 में स्पेन के नगर अल्जेसिरास (Algeciras) में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन ने मोरक्को में सभी देशों के हितों का उचित ध्यान रखते हुए फ्रांस और स्पेन को मोरक्को की नीति का संचालन का अधिकार दिया। फ्रांस के हितों की प्राथमिता मान ली गई। फ्रेंच गणतन्त्र की यह एक बड़ी कूटनीतिक सफलता थी।

पर मोरक्को-संकट समाप्त नहीं हुआ। 1911 में, अपनी स्थिति अधिक मजबूत बनाने के लिये, फ्रांस ने 'शान्ति और व्यवस्था' के नाम पर मोरक्को की राजधानी में अपनी सेना भेजी। इस पर जर्मनी ने मोरक्को के बन्दरगाह अगादीर में अपना एक युद्ध-पोत भेज दिया। फ्रांस-जर्मन युद्ध की आशंका पैदा हो गयी। पर इंगलैण्ड फ्रांस के साथ था, अतः जर्मनी ने इस समय फ्रांस से समझौता कर लेना उचित समझा। समझौते द्वारा जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस की प्रभुता स्वीकार कर ली और फ्रांस ने फ्रांसीसी कांगों का एक भाग जर्मनी को दे दिया। मोरक्को का संकट दूर हुआ।

मूल्यांकन

तृतीय गणतन्त्र काल में फ्रांस ने चतुर्मुखी उन्नति की। यह उन्नति उद्योग-धन्धों में, व्यवसाय में, राजनीति में, साहित्य, विज्ञान, कला आदि सभी क्षेत्रों में हुई। फलस्वरूप प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक फ्रांस संसार का सबसे अधिक धनी देश माना जाने लगा। 1914 में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया जो 1918 में समाप्त हुआ।

इंगलैण्ड की विदेश नीति
(1871–1914)

पृथकत्व की नीति में परिवर्तन

नैपोलियन प्रथम के बाद ही इंगलैण्ड ने "शानदार तटस्थता या पृथकता" (Splendid Isolation) की नीति अपना ली थी। इस समय से ही वह उलझन भरी संधियों से मुक्त रह कर अपने स्वार्थ की रक्षा करने लगा। लेकिन 19वीं शताब्दी के अन्त में उसकी यह तटस्थता की नीति बिल्कुल शानदार नहीं रह गई। इस खतरनाक और उपेक्षावादी नीति के कारण फ्रांस, रूस और जर्मनी के साथ उसके सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। खतरे का स्पष्ट आभास उसे बोअर-युद्ध के समय मिला जब उसने देखा कि सारे यूरोप का जनमत उसके विरुद्ध है और वह अकेला रह गया है।

इस खतरे को टालने का एक मात्र उपाय यह था कि इंगलैंड यूरोप में अपने लिये मित्रों की तलाश करें। यह समझते ही इंगलैंड ने शानदार पृथकता की नीति से हटना शुरू किया।

स्वभावतः इंगलैंड ने सर्वप्रथम जर्मनी की दोस्ती की ओर हाथ बढ़ाया

क्योंकि—(i) इंगलैंड की महारानी विक्टोरिया जर्मनी से सम्बन्धित थी, (ii) इंगलैंड की जनता जर्मनी को ही अपनी मातृभाषा समझती थी, एवं (iii) फ्रांस और ब्रिटेन के हित अफ्रीका में टकराते थे तथा रूस की शक्ति बढ़ने से इंगलैण्ड को भारत की सुरक्षा का भय था। इन्हीं कारणों से इंगलैण्ड ने जर्मनी वाले गुट से मिलने में अपना हित समझा। 19वीं सदी के अन्त में उसने तीन बार जर्मनी के सामने संधि प्रस्ताव रखे, पर जर्मनी ने उसके प्रस्तावों को ठुकरा दिया। ठोकरें खाकर इंगलैंड दूसरे मित्रों की खोज में लग गया।

जापान से मित्रता

इस समय रूस की साम्राज्यवादी नीति जापान के लिये घातक बन रही थी। इस मौके का फायदा उठाते हुए इंगलैंड ने 1902 में जापान के साथ एक संधि कर ली। इसके अनुसार प्रत्येक पक्ष ने वायदा किया कि यदि उसका मित्र एक से अधिक शक्तियों के विरुद्ध युद्ध में फंस जाएगा तो वह उसे सैनिक सहायता देगा। इंगलैंड को इस तरह चीन में रूस की आक्रामक नीति को रोकने के लिये प्रशांत महासागर क्षेत्र में एक शक्तिशाली मित्र मिल गया।

फ्रांस से मित्रता

पर जापान की संधि के बावजूद ब्रिटेन यूरोप में अभी मित्रहीन था! जर्मनी को उसकी दोस्ती कबूल नहीं थी। अतः इंगलैंड ने फ्रांस की ओर अपनी दृष्टि फेरी। दोनों देशों में पुराने मतभेदों को भुलाकर मित्रता का वातावरण बनता जा रहा था। इंगलैंड के सम्राट एडवर्ड की पैरिस यात्रा और फ्रेंच राष्ट्रपति और विदेश मन्त्री की लंदन यात्रा से दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध तेजी से सुधरते गये। फ्रेंच विदेश मंत्री देल्कासे ब्रिटिश मैत्री का बड़ा समर्थक था।

अन्त में, 8 अप्रैल, 1904 के दिन फ्रांस और इंगलैंड में एक समझौता हो गया जो इतिहास में एंग्लो-फ्रेंच समझौता (Anglo-French Entente, 1904) के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समझौते का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। संक्षेप में पश्चिमी अफ्रीका, श्याम और न्यू फाउण्डलैंड के प्रश्नों पर आसानी से समझौता हो गया। अन्य छोटे मोटे औपनिवेशिक प्रश्न भी सुलझा लिए गए। मूल विरोध मिस्र और मोरक्को के मामले पर था। फ्रांस ने मिस्र में इंगलैण्ड द्वारा प्राप्त किए गए विशेषाधिकार को मान लिया और बदले में इंगलैण्ड ने मोरक्को में फ्रांस का महत्व स्वीकार कर लिया। 1904 की इंगलैंड और फ्रांस की यह संधि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में बड़ी महत्व की घटना थी। सदियों से चले आ रहे दो शत्रुओं को इसने मित्र बना दिया। इसने उनकी साम्राज्यवादी प्रतियोगिता का अन्त कर दिया और उनकी मैत्री का रास्ता साफ कर दिया।

रूस से समझौता

इंगलैण्ड और फ्रांस के समझौते ने इंगलैण्ड और रूस की सन्धि का मार्ग साफ कर दिया। फ्रांस की दोस्ती का अर्थ था कि इंगलैण्ड अपने दोस्त के दोस्त को अपना दोस्त समझे। फ्रांस के प्रयत्नों से रूस ने भी इंगलैण्ड से संधि करने में

अपना हित समझा। 1905 में जापान से परास्त होने के बाद रूस शक्तिशाली मित्र की तलाश में था ही।

सन् 1907 में ब्रिटेन और रूस में एक संधि हो गई जिसके अनुसार निम्न बातें तय हुईं—

1. दोनों देशों ने ईरान की स्वतन्त्रता स्थापित करने का वादा किया। ईरान को तीन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया। दक्षिण पूर्वी ईरान में इंगलैण्ड ने और उत्तरी ईरान में रूस ने अपना प्रभाव क्षेत्र निश्चित किया। केन्द्रीय ईरान को तटस्थ इलाका माना गया। ईरान की खाड़ी में इंगलैण्ड की प्रधान-सत्ता को स्वीकार किया गया।

2. अफगानिस्तान के बारे में इंगलैण्ड ने घोषणा की कि वह अफगानिस्तान की राजनीतिक सत्ता में कोई परिवर्तन नहीं करेगा। उसके आंतरिक मामलों में भी वह हस्तक्षेप नहीं करेगा। उसने वादा किया कि भविष्य में वह अफगानिस्तान को रूस के विरुद्ध नहीं उकसायेगा। इसके बदले में रूस ने भी अफगानिस्तान को अपने प्रभाव क्षेत्र से बाहर घोषित किया। यह वादा भी किया कि अफगानिस्तान के साथ जो भी राजनीतिक सम्बन्ध होंगे वे इंगलैण्ड की सरकार द्वारा हुआ करेंगे।

3. तिब्बत के सम्बन्ध में दोनों देशों ने तय किया कि वे तिब्बत की राजनीतिक सीमाओं को परिवर्तित नहीं करेंगे और तिब्बत के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

इंगलेंड और रूस की इस संधि से इंगलेंड का एकाकीपन पूरी तरह समाप्त हो गया। इस संधि से त्रि-गुटीय मैत्री पूरी हो गई। इस संधि से जर्मनी को बड़ा धक्का पहुंचा। वह महसूस करने लगा कि फ्रांस, रूस और ब्रिटेन मिलकर उसे घेर लेना चाहते हैं, जबकि ऐसी कोई बात नहीं थी क्योंकि 1904 और 1907 की दोनों संधियां रक्षात्मक संधियां थीं। फिर भी यह स्वाभाविक था कि इन घटनाओं को देखकर जर्मनी निश्चिन्त नहीं बैठ सकता था। इस समय संसार में केवल आस्ट्रिया ही एकमात्र साथी रह गया था। अतः आस्ट्रिया को खुश करने के लिए जर्मनी उसे प्रत्येक प्रकार की सहायता देने लगा। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया की पीठ थपथपाते रहने के कारण बाल्कान प्रायद्वीप की समस्या नाज़ुक होती गई और अन्त में इसने प्रथम महायुद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

यूरोप की शांति का अंत

इंगलेंड और फ्रांस की दोस्ती से यूरोप में निश्चित शांति का जमाना लद गया। जर्मनी इस गुट को तोड़ने और आस्ट्रिया को मजबूत करने का प्रयास करने लगा। दोनों पक्षों में प्रचण्ड सैनिक तैयारियां शुरू हुईं। केन्द्रीय शक्तियां (जर्मन गुट) और त्रि-गुट (इंगलेंड, फ्रांस, रूस) के बीच कई बार खतरा पैदा हो गया। यह संकट विशेष रूप से या तो मोरक्को से सम्बन्धित थे या निकट पूर्व से। परस्पर गुट बनाने की होड़ और शस्त्रीकरण की होड़ के कारण सम्पूर्ण यूरोप का वातावरण विषाक्त हो गया। आस्ट्रिया का भार जर्मनी ने सम्हाल लिया और फ्रांस की सहायता का भार इंगलेंड ने।

---

4 इटली

(1871-1914)

"इटली ने एक महान् विशाल कार्यक्रम चलाने की चेष्टा की, जो व्यय और साहस पर अधिकाधिक रूप में निर्भर था। यह था औपनिवेशिक विस्तार जिसकी ओर अग्रसर होना यूरोप की एक विशिष्ट प्रथा बनी हुई थी।"

—हेजन

सन् 1870 में इटली का महान् लक्ष्य पूरा हुआ। विदेशी सत्ता से इटली मुक्त हो गया। छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर इटली का एकीकरण हुआ और देश को संविधान मिला। सन् 1870 के बाद स्वतन्त्र इटली ने विभिन्न समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया। अपनी आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने के साथ ही इटली ने अपना औपनिवेशिक विस्तार किया। साथ ही एक प्रभावशाली विदेश-नीति का अनुसरण किया। जब 1914 में महायुद्ध शुरू हुआ तो इटली पहले तटस्थ रहा, किन्तु बाद में मित्र राष्ट्रों का सहयोगी हो गया। इस तरह अपनी सुरक्षा करते हुए इटली आगे बढ़ा।

प्रारम्भिक समस्यायें और उनका समाधान

नव-निर्मित इटली के समक्ष प्रारम्भ में अनेक विकट समस्यायें उत्पन्न हुईं, किन्तु एक-एक करके सभी समस्याओं पर सफलतापूर्वक काबू पाया गया।

(1) एकता सम्बन्धी प्रारम्भिक कठिनाइयां—इटली की पहली समस्या थी एकीकरण को सुदृढ़ करना। बाह्य एकीकरण तो प्राप्त हो चुका था, किन्तु राजनीतिक और सामाजिक हितों की दृष्टि से इटली का एकीकरण अभी बाकी था। इटली के लोग शताब्दियों से विभाजित रहे थे और एक दूसरे से लड़ते रहते थे। अब अकस्मात ही सबको मिलाकर एक कर दिया गया था। अतः उनमें राष्ट्रीय एकता का अभाव था। लोगों में प्रादेशिकता और संकीर्णता की भावनायें बड़ी मात्रा में विद्यमान थीं।

उत्तरी और दक्षिणी इटली में बहुत ही अन्तर था। उत्तरी इटली में राजनीतिक और आर्थिक विकास थोड़ा बहुत हो चुका था, किन्तु दक्षिणी इटली में बिलकुल नहीं हो पाया था। दक्षिणी इटली पूर्णतया कृषि-प्रधान देश था जबकि

उत्तरी इटली में कुछ औद्योगिक क्षेत्र भी थे। उत्तरी इटली में पिडमोण्ट राज्य क्षेत्र में प्रजातांत्रिक संस्थाओं का विकास हो चुका था जबकि दक्षिण के नेपल्स और सिसली राज्यों में स्वायत्त शासन का किसी प्रकार का अनुभव नहीं था। नव-निर्मित इटली की सरकार के सामने यह विकट समस्या थी कि इटली के विभिन्न भागों में राजनीतिक जागरूकता और आर्थिक सुदृढ़ता कैसे लाई जाय ?

1870 के बाद एक गम्भीर समस्या राजनीतिक दलों के संघर्षों से पैदा हुई। 1870 के पहले इटली के जो प्रान्त आपस में लड़ते रहते थे वे इटली के एकीकरण के बाद राजनीतिक दलों के रूप में प्रकट हुए।

(1) सुधार—इटली की सरकार ने इन सभी समस्याओं का निराकरण करने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में निम्न उल्लेखनीय कार्य किये गये—

(1) सम्पूर्ण इटली को एक ही प्रकार का संवैधानिक शासन प्रदान किया गया। इसके अनुसार-(क) इटली में संवैधानिक राज्य सत्ता की स्थापना की गई, (ख) इटली का अधिपति वंशानुगत राजा बनाया गया, (ग) राजा को लोकमत द्वारा चुने जाने की व्यवस्था की गई जो संसद् और उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रि-मण्डल की सहायता से शासन करता था।

(2) नागरिकों के मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई। कानून की दृष्टि में सभी को बराबर रखा गया।

(3) संसद की अनुमति के बिना कोई भी कर लगाना निषिद्ध ठहरा दिया गया।

(4) रेल्वे का राष्ट्रीयकरण किया गया।

(5) स्थल सेना और जल सेना को पुनर्संगठित किया गया। सैनिक शिक्षा अनिवार्य करदी गई।

राष्ट्रीय सामाजिक कुरीतियों को दबाने का प्रयत्न किया। कारखाना कानूनों को प्रोत्साहन दिया गया। शिक्षा अनिवार्य घोषित कर दी गई।

(2) पोप और राज्य में खींचा-तानी—इटली के एकीकरण के बाद राज्य और पोप के सम्बन्ध बड़े पेचीदे हो गये। एक ही नगर में दो प्रधान बन गये जिनमें एक की शक्ति लौकिक थी और दूसरे की पार-लौकिक। पोप और राज्य में किसी प्रकार का समझौता न हो सका।

अतः इटली की सरकार ने कुछ कानून बनाये जिन्हें 'Law of Papal Gurantees' कहा गया। इनके अनुसार पोप को भी इटली के सम्राट के बराबर अधिकार दिये गये, जैसे—(1) पोप को स्वतन्त्र राजा के रूप में स्वीकार किया गया। वह विदेश में अपने राजदूत भेज सकता था अथवा वहां से राजदूत स्वीकार कर सकता था, (2) उसे महल में रहने की अनुमति दी गई जिस पर वह अपना झण्डा फहरा सकता था, (3) चूंकि पोप के राज्य का अधिकांश भाग इटली में

मिला लिया गया था अतः उसे प्रतिवर्ष 19 लाख 35 हजार रुपये पेन्शन देना मंजूर किया गया।

पोप को यह भी अधिकार दिया गया कि वह मुफ्त में रेलवे, पोस्ट आफिस एवं डाक-घर का व्यवहार करे।

पोप पायस ने इन कानूनों की निन्दा की। उसने न तो पेन्शन लेना स्वीकार किया और न वैटिकनसिटी में बन्द रहना ही स्वीकार किया। उसने सम्पूर्ण कैथोलिक प्रजा से अपील की कि वह चुनाव में भाग न ले और इटली के सम्राट के अधीन कोई नौकरी न करे।

पोप पायस नवम् के उत्तराधिकारी पोप लियो तेरहवें (1878–1903) ने भी इटली की सरकार के प्रति वैसा ही रुख बनाये रखा। उसने अपने को "डाकू राजा" के अधीन कैदी समझा। राज्य और पोप में विरोध की खाई गहरी होती गई। इटली की सरकार को यह भय बना रहा कि पोप का पक्ष लेकर कोई विदेशी शक्ति इटली में हस्तक्षेप न कर बैठे।

आपसी फूट की समाप्ति—सौभाग्यवश 20 वीं शताब्दी के आरम्भ से दोनों की कटुता में कमी आने लगी। इटली में समाजवाद का प्रभाव बढ़ने लगा जिसके भय से पोप और राजा एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने लगे। समाजवाद को दोनों ही अपना शत्रु समझते थे। सन् 1905 में पोप पायस दशम् ने कैथोलिकों पर राजनीति में भाग लेने के प्रतिबन्धों को हटा लिया। धीरे-धीरे राज्य और पोप दोनों शक्तियों को एक साथ रहने का अभ्यास हो गया, लेकिन 1919 में मुसोलिनी के साथ पोप का फिर समझौता हुआ और धीरे-धीरे दोनों शक्तियां मैत्रीपूर्वक रहने लगी। पोप और इटली सरकार का संघर्ष सदा के लिए समाप्त हो गया।

(3) आर्थिक कठिनाइयां—नव-निर्मित इटली के समक्ष उलझनपूर्ण आर्थिक कठिनाइयां उपस्थित हुईं। इटली पर पहले से ही राष्ट्रीय ऋण काफी बढ़ा हुआ था और अब प्रशासन तथा विकास पर व्यय के लिए बहुत अधिक धन की आवश्यकता और आ पड़ी। फलस्वरूप धीरे-धीरे जनता पर कर-भार बढ़ता गया। यूरोप में इतना भारी कर-भार किसी देश में नहीं था। जनता के लिए करों के इस बोझ को सहना असह्य हो गया। अतः लोगों ने क्रान्तिकारी उपायों का आश्रय लिया। गुप्त समितियों का संगठन होने लगा। करों की वृद्धि से तंग आकर हजारों इटली वासी अमेरिका और अफ्रीका चले गये।

(4) औद्योगिक प्रगति द्वारा आर्थिक समस्या का समाधान—इस विकट आर्थिक समस्या का समाधान करने के लिए सरकार ने औद्योगिक उन्नति पर विशेष ध्यान दिया। देश में औद्योगीकरण की नीति अपनाई गई। पानी से बिजली पैदा करने के कारखाने चलाये गये। बड़े पैमाने पर जहाजों का निर्माण किया गया। इटली के व्यापारिक जहाज संसार के सभी बन्दरगाहों पर दिखाई देने लगे।

राष्ट्रीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए संरक्षण नीति अपनाई गई। विदेशों में चले गये इटली वालों ने अपने देश की चीजें बेचना शुरू किया। इनसे भी इटली का व्यापार बहुत बढ़ा। साथ ही जनसंख्या की समस्या का भी समाधान हुआ।

1913 तक इटली का व्यापार उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया। उसका व्यापार 1870 के व्यापार से तिगुना हो गया। कृषि-प्रधान इटली एक औद्योगिक राष्ट्र बन गया।

(5) समाजवाद का प्रभाव और विद्रोह—इटली में जब आर्थिक समस्याओं से लोग तंग आ गये तो लोगों का राजतन्त्र से विश्वास उठने लगा। समाजवाद और प्रजातन्त्र में उनका विश्वास दृढ़ होने लगा। जगह-जगह विद्रोह भी फैलने लगे। सन् 1889 में च्यूरिन, मिलान और रोम में विद्रोह हुए। 1893 में सिसली के मजदूरों ने विद्रोह कर दिया। 1898 में इटली के कई हिस्सों में खूनी विद्रोह हुए। दक्षिणी और मध्य इटली में तो रोटी की समस्या को लेकर विद्रोह हुए, पर उत्तरी इटली में क्रान्तिकारी भावनाओं ने विद्रोह को जन्म दिया। सरकार ने विद्रोहों को बड़ी क्रूरता से दबा दिया, फिर 1900 में राजा हूम्बर्ट की एक आतंकवादी के हाथों हत्या हो गई।

समाजवाद का प्रभाव कम करने एवं श्रमिकों की दशा सुधारने के प्रयत्न—समाजवाद का प्रभाव कम करने के लिए दमनकारी उपायों के साथ ही सरकार ने मजदूरों की दशा सुधारने के कार्य भी किये। बीमारी तथा दुर्घटनाओं की स्थिति में मजदूरों की अनिवार्य बीमा-व्यवस्था की गई। फैक्ट्री एक्ट बनाये गये। कारखानों में काम करने की दशा सुधारी गयी। 1908 में सप्ताह में एक दिन की छुट्टी की व्यवस्था की गई। ट्रेड यूनियनों को मान्यता दी गई। इन सब बातों से श्रमिकों की दशा में सुधार होने लगा और 20वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली की कठिनाइयां कम होने लगी। फिर भी समाजवादी दल इटली में भी अन्य देशों की तरह उन्नति करता रहा।

(6) शिक्षा का प्रचार—इटली में शिक्षा प्रचार का कार्य भी तेजी से किया गया। 1870 में इटली में शिक्षितों की संख्या केवल 30 प्रतिशत थी जो 1914 में 75 प्रतिशत हो गई। 9 वर्ष के बालकों के लिए शिक्षा अनिवार्य करदी गई। 1904 में प्रत्येक कम्यून में एक विद्यालय खोलने की योजना बनाई गई। वयस्कों की शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं का प्रबन्ध किया गया।

(7) मताधिकार का विस्तार—इटली में मताधिकार के विस्तार की मांग हो रही थी। अतः सरकार ने 1882 में एक नियम बनाकर सम्पत्ति की योग्यता में थोड़ी कमी करदी जिससे मताधिकार का कुछ विस्तार हुआ। 1912 में साक्षरता की योग्यता भी समाप्त करदी गई। इससे जनता को वयस्क पुरुष मताधिकार मिला।

(8) सेना का पुनर्गठन—नव-निर्मित इटली की सुरक्षा के लिये सरकार ने विशाल सेना की व्यवस्था की। अनिवार्य सैनिक सेवा चालू की गई। जंगी जहाज तैयार किये गये। सैनिकों के लिए नये अस्त्र-शस्त्रों की व्यवस्था की गई।

औपनिवेशिक नीति

यूरोप के अन्य देशों की तरह इटली को भी उपनिवेशों की आवश्यकता महसूस हुई। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये, देश में निर्मित माल की बिक्री के लिये इटली संसार के अन्य भागों में उपनिवेश स्थापित करने की दिशा में आगे बढ़ा। ब्रिटेन ने उसे अफ्रीका में ट्यूनिस और ट्रिपोली पर अधिकार करने की सलाह दी। चूंकि ट्यूनिस पर फ्रांस ने अधिकार कर लिया, अतः ट्रिपोली पर ही इटली कब्जा जमा सका (1912)। इसका नाम लीबिया रख दिया गया। 1875 में ऐबीसीनिया के बन्दरगाह मसोआ पर इटली ने अधिकार कर लिया। बाद में सोमालीलैण्ड भी इटली के हाथों में आ गया। लाल सागर पर भी उसका अधिकार हो गया। अब उसने ऐबीसीनिया की ओर बढ़ने का प्रयास किया, पर 1886 में एडोवा की लड़ाई में उसकी हार हुई। इटली ने चीन में उपनिवेश स्थापित करना चाहा, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली।

इटली की वैदेशिक नीति

कुछ समय तक इटली अपनी आन्तरिक समस्याओं में इतना व्यस्त रहा कि वह विदेश नीति की ओर ध्यान नहीं दे सका। 1880 के बाद इस ओर उसने ध्यान लगाया। अन्य राष्ट्रों की तरह इटली भी अपने को एक शक्तिशाली देश बनाना चाहता था, अतः उसने अपनी विदेश नीति के दो लक्ष्य बनाये—1. उपनिवेशों की स्थापना, एवं 2 साम्राज्य विस्तार।

औपनिवेशिक नीति का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। अतः यहां हम इटली की साम्राज्यवादी नीति का वर्णन करेंगे।

सन् 1860 तक इटली का एकीकरण लगभग हो चुका था। फिर भी करीब 10 लाख इटालियन ऐसे थे जो अन्य विदेशी राज्यों के अधीन थे। नीस, सेवाय तथा पोर्सिका पर फ्रांस का अधिकार था। ट्रेन्टू, त्रिस्त, फ्यूम तथा डालमेशिया प्रदेशों पर आस्ट्रिया-हंगरी का प्रभुत्व था। माल्टा इंगलैंड के अधीन था। इटली की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा यह थी कि इन प्रदेशों को मिलाकर राष्ट्रीय एकता पूर्ण की जाय।

इस इच्छा की पूर्ति के मार्ग में इटली के सामने कुछ विशेष बाधायें थीं—1. इटली की सैन्य शक्ति सुदृढ़ नहीं थी, 2 आन्तरिक दृष्टि से वह कमजोर था, 3. मित्रों का उसे अभाव था, 4. यूरोप पर बिस्मार्क का प्रभाव छाया हुआ था, एवं 5. पोप का उसे सबसे अधिक भय था। इटली को डर था कि कोई विदेशी शक्ति पोप के उकसाने में आकर इटली की राजनीति में हस्तक्षेप शुरू न कर दे।

अतः इटली ने वहुत सम्भल-सम्भल कर कदम उठाना शुरू किया। इटली की महत्वाकांक्षा कुछ अंशों में प्रथम महायुद्ध के वाद ही पूरी हो सकी जब 8900 वर्ग मील के प्रदेश, जिनमें 16 लाख के लगभग इटालियन रहते थे, उसे प्राप्त हुए। इसके बाद राष्ट्रीयता की दृष्टि से इटली लगभग एक पूर्ण राष्ट्र बन गया। यूरोप के प्रायः सभी इटालियन एक राष्ट्र में संगठित हो गए।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक इटली ने विदेश नीति के क्षेत्र में मुख्य कार्य ये किए——

जर्मनी से मित्रता—इटली ने यूरोप की राजनीतिक गुट बन्दियों में सक्रिय भाग लेना शुरू किया। वह फ्रांस के विरोधी देशों से मिलने लगा। इस समय तक बिस्मार्क के प्रयास से जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी के द्वि-गुट (Dual Allíance) का निर्माण हो चुका था। 1882 में इटली इसमें शामिल हो गया और तब द्वि-गुट का नाम त्रि-गुट (Triple Alliance) हो गया।

इंगलैंड से मित्रता—इटली त्रिगुट में मिल तो गया, पर आस्ट्रिया के विरोध के कारण त्रिगुट में रह कर वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता था। इटली उन प्रदेशों पर अधिकार करना चाहता था जो आस्ट्रिया के कब्जे में थे। वह फ्रांस से भी नहीं मिल सकता था क्योंकि नीस, सेवाय, कोर्सिका, फ्रांस के कब्जे में थे जबकि इटली इन प्रदेशों को अपना मानता था। इसी हालत में इटली इंगलैंड की ओर आकर्षित हुआ। सन् 1887 में इटली और इंगलैंड में एक मैत्री संधि हुई। इसके अनुसार यह तय हुआ कि यदि तीसरी शक्ति से उनका युद्ध हुआ तो भू-मध्य सागर में वे एक दूसरे के हितों की रक्षा करेंगे। इटली ने मिस्र में इंगलैंड को सहायता देने का वचन भी दिया।

फ्रांस से सम्बन्धों में सुधार—इटली ने फ्रांस से अपने संबन्ध सुधार लेना हितकर समझा। अतः 1897 में उसने ट्यूनिस पर फ्रांस के अधिकार को स्वीकार कर लिया। 1898 में इटली और फ्रांस के बीच एक संधि हुई। फिर 1900 और 1908 में दोनों के बीच दो और समझौते हुए। फ्रांस ने ट्रिपोली में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया और इटली ने मोरक्को में हस्तक्षेप न करने का वादा किया। इटली और फ्रांस के बीच एक अन्य गुप्त संधि भी हुई जिसके अनुसार इटली ने वचन दिया कि यदि फ्रांस का अन्य किसी देश से युद्ध हुआ तो इटली तटस्थ रहेगा। इस तरह इटली और फ्रांस के सम्बन्ध निरन्तर अच्छे होते गए। इटली त्रिगुट से विमुख होने लगा।

रूस से मित्रता—1909 में रूस का जार इटली आया। तब दोनों देशों के बीच समझौता हुआ कि बाल्कान प्रायद्वीप में दोनों पारस्परिक हितों की रक्षा करेंगे।

सन् 1914–1918 में विश्व-युद्ध छिड़ गया। त्रि-गुट का सदस्य होते हुए भी इटली तटस्थ रहा और बाद में जर्मनी तथा आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गया।

रूस एवं रूस की साम्यवादी क्रांति

(1871–1914)

"जार की अंधी सरकार ने जमाने को नहीं पहचाना और मौका हाथ से खो दिया जिससे सुधार आंदोलन ने क्रांति का रूप धारण कर लिया। इस क्रांति ने राजसत्ता का ही नहीं, रूसी समाज के आकार-प्रकार का भी अंत कर दिया।"
—लिप्सन

रूस के सम्राट एलेक्जेण्डर द्वितीय ने सन् 1855 से 1881 तक शासन किया। उसने अपने शासन काल में स्थानीय शासन की स्थापना की, न्याय पद्धति में सुधार किया और जनता के प्रति उदार नीति अपनाई। लेकिन जब देश में सांवैधानिक शासन की मांग की जाने लगी तो जार ने सुधार की मांग को और आगे बढ़ने से साफ-साफ इन्कार कर दिया। जनता में सांविधानिक शासन की जो आशा पैदा हो गई थी वह निराशा में बदल गई। सन्तोष का स्थान असन्तोष ने ले लिया और सरकार के विरोध में एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसे "निहिलिस्ट आंदोलन (Nihilist Movement) कहते हैं। इन निहिलिस्टों अथवा उग्र-व्यक्ति-वादियों ने पहले शांतिमय तरीकों से अपना आंदोलन चलाया ; पर इन तरीकों से खिचड़ी पकती न देख कर वे हिंसा पर उतर आए। स्वयं जार एलेक्जेण्डर की हत्या के प्रयत्न किए गए। 13 मार्च, 1881 को जो हत्या का प्रयत्न किया गया वह सफल रहा। जार की गाड़ी पर बम्ब फेंका गया। गाड़ी चूर-चूर हो गई, पर जार बच गया। लेकिन जब वह अपने घायल अंगरक्षकों की सहायता करने को बढ़ा तभी बम्ब के एक दूसरे धड़ाके ने उसे बुरी तरह घायल कर दिया। एक घन्टे बाद ही उसकी इहलीला समाप्त हो गई।

एलेक्जेण्डर तृतीय (1881–1894)

एलेक्जेण्डर द्वितीय के बाद उसका 36 वर्षीय पुत्र एलेक्जेण्डर तृतीय गद्दी पर बैठा। वह निरंकुशता में अपने सभी पूर्वजों से दो कदम आगे बढ़ा हुआ था। वह धार्मिक कट्टरता से परिपूर्ण और संकीर्ण विचारों का था। वह दृढ़ निश्चयी, निरंकुशता का उपासक और घोर प्रतिक्रियावादी था। B

एलेक्जेण्डर तृतीय की नीति

एलेक्जेण्डर तृतीय का सम्पूर्ण शासन-काल कठोर, दमन और प्रतिक्रियावादी कार्यों से परिपूर्ण रहा। पर दूसरी ओर उसके शासन काल में रूस की अद्भुत औद्योगिक प्रगति भी हुई। एलेक्जेण्डर के समय की मुख्य घटनायें इस प्रकार रहीं—

(1) आतंकवादियों का दमन और सुधारों की समाप्ति--एलेक्जेण्डर तृतीय ने सुधारों और उदारवादियों के प्रति शत्रुतापूर्ण नीति अपनाई और आतंकवादियों का कसकर दमन किया। उसने समस्त सुधारों का अन्त कर डाला। स्थानीय स्वायत्त समितियों की शक्ति को क्षीण कर दिया। जनता की स्वतन्त्रता को पलीता लगाने के लिए सारे देश में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। उसने प्रेस की स्वतन्त्रता को आग लगा दी। अध्यापकों और छात्रों तक पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए। सन्देह मात्र होने पर ही अध्यापकों को पद से अलग कर दिया गया।

जार ने आंतकवादियों का इतना जोरों से दमन किया कि वे निष्क्रिय हो गए। उसने उन सभी व्यक्तियों को खोजकर सजायें दी जिनका उसके पिता की हत्या में हाथ था। एलेक्जेण्डर के दमनकारी कार्यों से रूस में आतंकवादियों के मिजाज ठण्डे हो गए।

निकोलस ने विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिए और अध्ययन-क्रम राजकीय आज्ञाओं के अधीन कर दिया। विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित पाठ्य-पुस्तकों का प्रचलन बन्द कर दिया गया और पाश्चात्य नवीन विचारों के प्रवेश पर कठोर रोक लगादी। एक प्रकार से रूस की बौद्धिक उन्नति ही अवरुद्ध करदी गई।

प्रतिक्रियावादी नीति को बल देने के लिए शासन में केन्द्रीयकरण को सुदृढ़ किया गया और सामन्तीवर्ग को संरक्षण दिया गया। स्थानीय संस्थाओं के अधिकार एकदम कम कर दिए गए।

(2) रूसीकरण—एलेक्जेण्डर तृतीय को उपरोक्त दमन कार्यों से ही संतोष नहीं मिला। उसने गैर-रूसी लोगों का रूसीकरण भी शुरू कर दिया। जर्मन, पोल एवं अन्य जातियों का रूसीकरण किया गया। सब गैर-रूसी लोगों पर समान रूप से रूसी भाषा और रूसी कानून-कायदे लाद दिए गए। विभिन्न साधनों द्वारा अनेक प्रकार की विशेषताओं और विभिन्नताओं को समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया गया। "एक रूस, एक धर्म, एक जार" की नीति का कठोरता से पालन किया गया।

रूसीकरण की धुन में यहूदियों पर भीषण अत्याचार किये गये। रूसी जनता भी यहूदी विरोधी भावना की शिकार थी। फलस्वरूप अनेक स्थानों पर दंगे हुये जिनमें बड़ी संख्या में यहूदी मारे गये। यूरोप में उस समय यहूदियों की संख्या 85 लाख के आस-पास थी जिसमें से लगभग 50 लाख अकेले रूस में ही रहते थे। एलेक्जेंडर तृतीय ने यहूदियों को रूस के कुछ ही नगरों में रहने की आज्ञा दी।

माध्यमिक स्कूलों और विश्वविद्यालयों में दाखिल किये जाने वाले यहूदी छात्रों की संख्या सीमित कर दी गई। सरकार और जनता की घोर यहूदी विरोधी नीति के कारण हजारों यहूदी रूस छोड़ कर अन्य देशों में चले गये। जो गरीब और असन्तुष्ट यहूदी विदेश न जा सके उन्होंने नगरों में अलग-अलग अपनी बस्तियों का निर्माण कर लिया और धीरे-धीरे उनमें राष्ट्रीय भावना का जागरण शुरू हुआ।

(3) **व्यावसायिक एवं औद्योगिक उन्नति**—जहां एक ओर एलेक्जेण्डर तृतीय ने ये सब जनहित विरोधी कार्य किये, वहां दूसरी ओर रूस की व्यावसायिक और औद्योगिक उन्नति की नींव भी उसी ने डाली। उसके सत्ता सम्भालने के समय रूस एक कृषि-प्रधान देश था जिसकी गणना संसार के बड़े ही गरीब देशों में की जाती थी; पर एलेक्जेण्डर तृतीय ने देश के उद्योग-धन्धों के विकास पर ध्यान दिया और देश में एक औद्योगिक क्रांति ला दी। सन् 1892 में उसने सर्जियस-डी-विट (Sergius-De-Witte) को अपना अर्थ एवं व्यापार मंत्री नियुक्त किया। आर्थिक क्षेत्र में निम्नलिखित मुख्य सुधार किये गये—

1. विदेशी पूंजी की कमी दो तरीकों से दूर की गई—(क) रूसी उद्योगों और खानों में पूंजी लगाने के लिये विदेशी पूंजीपतियों को राजी किया गया एवं (ख) अन्य देशों से विशेषकर फ्रांस से ऋण लिया गया।

2. यातायात के साधनों में प्रगति लाई गई। विदेशों से ऋण लेकर रेल मार्गों और संचार साधनों का विस्तार किया गया। यूरोप को प्रशान्त महासागर से जोडने वाली ट्रांस-साइबेरिया रेल रोड (Trans-Siberia Rail Road) बननी आरम्भ हुई।

3. संरक्षण नीति अपना कर रूसी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया गया। विदेशी माल पर विशेष रूप से चुंगी लगाई गई।

मूल्यांकन

इन सब बातों के कारण 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में रूस का औद्योगिक विकास बड़ी तेजी से हुआ। नगरों की संख्या बहुत बढ़ गई। एक शक्तिशाली मध्यम वर्ग का निर्माण हुआ। थोड़े समय बाद देश में राजनीतिक अधिकारों की मांग शुरू हो गई। इस तरह अलेक्जेण्डर तृतीय ने परोक्ष रूप से अपने किये गये सुधारों द्वारा रूस में उन सभी शक्तियों को जन्म दिया जो अंततः उस समय की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए बड़ी घातक सिद्ध हुई।

औद्योगिक विकास के कारण यूरोप के नये देशों की तरह रूस में भी श्रम समस्या का उदय हुआ। इस समस्या ने आगे चलकर रूस की कायापलट ही कर दी और रूस एक साम्यवादी देश हो गया। सन् 1894 में एलेक्जेण्डर तृतीय की मृत्यु हो गई।

निकोलस द्वितीय
(1894–1917)

एलेक्जेण्डर तृतीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र निकोलस द्वितीय 1894 में गद्दी पर बैठा। उस समय वह 26 वर्ष का था। निकोलस द्वितीय अपने बाप से भी बढ़कर था। उसने अपने पिता की दमन-नीति को तो जारी रखा ही, लेकिन पिता से भी बढ़कर अत्याचार किये। उसके शासन–काल में कानून का शासन मिट्टी में मिल गया। उसकी इच्छा ही कानून रह गई। किसी का मान और जीवन सुरक्षित नहीं रहा।

निकोलस द्वितीय के शासन काल की मुख्य घटनायें

(1) निरंकुशता—निकोलस द्वितीय ने गद्दी पर बैठने के समय रूसी जनता को सुधारों के आश्वासन की मीठी गोलियां खिलाई। पर शीघ्र ही उस घोषणा ने उन गोलियों का स्वाद कड़वा बना दिया कि "मैं एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के सिद्धान्तों का उसी दृढ़ता के साथ अनुसरण करूंगा जैसा कि मेरे पूर्वज करते आये हैं।" इसके बाद लगभग 10 वर्षों तक उसने घोर निरंकुशता और प्रतिक्रियावादी नीति का परिचय दिया। उस पर अपनी पत्नी का अत्यधिक साया रहा। वह घोर प्रतिक्रियावादी सलाहकारों की राय से शासन चलाने लगा। फलस्वरूप जनता की स्वतन्त्रता को पूरी तरह कुचल दिया गया। प्रेस और पुस्तकों को जब्त कर लिया गया। पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों को गुप्तचरों से भर दिया गया। उसके समय किसी को भी गिरफ्तार किया जा सकता था, जेल में सड़ाया जा सकता था या देश निकाला दिया जा सकता था।

(2) करों का भारी बोझ—निरंकुश शासन से दबी जनता पर नये-नये करों का बोझ डाला गया। ये कर रेलों और सेनाओं पर हो रहे खर्च को पूरा करने के लिये लगाये गये। करों का बोझ गरीबों और किसानों पर अधिक पड़ा। यह कर-भार इतना अधिक हो गया कि एक अनुमान के अनुसार किसानों के जीवन का एकमात्र लक्ष्य इतना कमा लेना था कि सरकारी कर अदा किया जा सके। राजनीतिक और आर्थिक चक्के के पाटों के बीच जनता पिसती गई। पर असहाय होने के कारण चुप रही और मौके का इन्तजार करती रही।

(3) फिनलैण्ड के स्वशासन का अन्त—निकोलस द्वितीय ने अपनी निरंकुशता रूस तक ही सीमित नहीं रखी। सन् 1899 में उसने फिनलैंड को अपनी निरंकुशता का शिकार बनाया। वहां के सांविधानिक शासन का अन्त करके उसने अपना निरंकुश शासन लागू कर दिया।

जार के इस कार्य के विरोध में फिनलैण्ड वालों ने शोक दिवस मनाया। पांच लाख से भी अधिक लोगों के हस्ताक्षर वाला प्रार्थना-पत्र जार की सेवा में भेजा गया जिसे उसने लेने से इन्कार कर दिया।

इसके बाद फिनलैण्ड की सेना रूसी सेना का एक भाग बना दी गई। फिनलैण्ड के उच्च पदों पर रूसी अधिकारी नियुक्त किये गये। फिनलैण्ड की जनता में घोर असंतोष पैदा हो गया।

(4) रूस-जापान युद्ध और रूस की हार (1904–1905)—निकोलस द्वितीय के समय 1904–5 में रूस-जापान युद्ध हुआ। इस युद्ध के होने का मुख्य कारण यह था कि एशिया में रूस के विस्तार को जापान की बढ़ती हुई शक्ति ने रोका। रूस लगभग 150 वर्षों से उत्तरी और मध्य एशिया में अपना विस्तार करता आ-रहा था। वह समुद्र तक पहुँचना चाहता था। चूंकि यूरोप में उसे सफलता नहीं मिली, अतः उसने एशिया में समुद्र तक पहुँचने का निश्चय किया।

रूस एशिया में धीरे-धीरे बढ़ते हुए, पूर्व में चीन की दीवार और दक्षिण में भारत की उत्तरी सीमा हिमालय पर्वत तक पहुंच गया। पूरा मध्य और उत्तरी एशिया रूसी कब्जे में आ गया। इस तरह एशिया में रूस इंगलैण्ड का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी बन गया।

अब रूस ने प्रशांत महासागर पर एक ऐसा बन्दरगाह प्राप्त करना चाहा जो बारह महिनों खुला रहता हो। रूस का ब्लाडिवास्टक का अपना बन्दरगाह बहुधा बर्फ से ढका रहता था। रूस ने इस दृष्टि से दक्षिण मंचूरिया में स्थित पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह को कब्जे में लेना चाहा, किन्तु मंचूरिया की ओर कदम उठाते ही जापान की बढ़ती हुई ताकत से रूस की टक्कर हो गई।

फरवरी, 1904 में जापान ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान ने रूस को थल और जल दोनों लड़ाइयों में हराया। रूस को बुरी तरह नीचा देखना पड़ा। युद्ध का अन्त पोर्टस्माउथ (Portsmouth) की सन्धि से हुआ। यह निश्चय हुआ कि रूस और जापान दोनों मंचूरिया खाली करदें। इसके अतिरिक्त रूस ने कोरिया में जापानी हितों को मान्यता दी यद्यपि यह भी तय हुआ कि कोरिया स्वतन्त्र रहेगा। रूस ने पोर्टआर्थर का पट्टा भी जापान के नाम कर दिया।

रूस-जापान युद्ध के दूरगामी परिणाम निकले। जापान पूर्व की प्रमुखतम शक्ति हो गया। जापान से युद्ध में मार खा जाने से रूस की प्रतिष्ठा बहुत गिर गई। वहाँ के निरंकुश शासन की बड़ी बदनामी हुई।

(5) व्यापक असंतोष तथा 1905 की राज्य क्रांति—रूसी जनता में निरकुश शासन से असंतोष पहले ही था। अब रूस की पराजय से यह असंतोष और भी व्यापक हो गया। जनता ने भाषण, प्रकाशन, सार्वजनिक सभाओं और विवेक की स्वतन्त्रता की मांग की। उस समय वान प्लेहवे (Von Plehvey) रूस का गृहमंत्री था। इस अत्याचारी गृहमन्त्री ने जनता पर बड़े दमन किये थे। अतः जब जनता का असंतोष रूस की पराजय के कारण उग्र हो गया तो जुलाई, 1904 में बम्ब फेंक कर उसकी हत्या कर दी गई। सरकार के अन्य अत्याचारी अफसरों पर भी बम्ब

फेंके गये। मास्को और अन्य प्रमुख नगरों की सड़कों पर "निरंकुश शासन का अंत हो" के नारे लगने लगे। सारा रूस वैधानिक शासन के लिये बेचैन हो उठा।

सरकार द्वारा सांविधानिक शासन की मांग ठुकरा दिये जाने पर रूस में सन् 1905 को राज्य क्रांति आरम्भ हो गई। किसानों ने जमींदारों के महलों में आग लगा दी। सरकार ने फौजी कानून लागू करते हुए क्रान्ति को बेरहमी से कुचलना शुरू किया।

22 जनवरी, 1905 को सेन्ट पीटर्सबर्ग के मजदूरों ने जार की सेवा में उपस्थित होकर अपने कष्ट सुनाने का निश्चय किया। सभी मजदूर निहत्थे थे। पर ज्यों ही वे राजमहल के पास पहुँचे, सैनिकों ने उन्हें गोलियों से भून डाला। जार ने स्वयं भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दिया था। इस हत्याकाण्ड से राजमहल के सामने लाशों का ढेर लग गया। रूस के इतिहास में यह दिन "खूनी रविवार" के नाम से प्रसिद्ध है।

(6) **शासन सुधारों की घोषणा**—इस हत्याकाण्ड ने जनता के क्रोध को भड़का दिया। इससे आग में घी पड़ चुका था। क्रान्ति ने इतना जोर पकड़ा कि पोलैंड, आर्मिनिया और जार्जिया तक में विद्रोह हो गया। फिनलैंड ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। लिथुआनिया ने भी ऐसा ही किया। रूस में पुलिस अफसरों और सरकारी पदाधिकारियों का वध किया जाने लगा। सारे देश में अराजकता छा गई। रूस क्रान्ति के द्वार पर खड़ा हुआ था। स्थिति को काबू से बाहर होते देखकर जार निकोलस द्वितीय झुका। 30 अक्टूबर, 1905 को उसने शासन सुधारों की घोषणा की। अपनी घोषणा में उसने यह भी कहा कि पार्लियामेन्ट (Duma) की स्थापना की जाएगी जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होंगे और जिसकी स्वीकृति से ही कानून बनाए जायेंगे।

सुधारों की दिशा में जार का यह एक महत्वपूर्ण कदम था। लेकिन शीघ्र ही एक दूसरा आदेश निकाल कर जार ने अपनी घोषणा का प्रभाव कम कर दिया। उसने ड्यूमा को राज्य की विधानसभा का प्रथम सदन मानकर साम्राज्य परिषद् के नाम से एक दूसरे सदन का निर्माण कर दिया जिसके सदस्य सम्राट द्वारा नियुक्त किए जाने थे। साथ ही यह भी आवश्यक ठहरा दिया कि जार की अनुमति के लिए भेजे जाने से पूर्व कानूनों पर ड्यूमा के साथ साम्राज्य परिषद् की स्वीकृति भी हो। इस प्रकार ड्यूमा एक मात्र प्रतिनिधि सभा होने के अधिकार से वंचित कर दी गई।

(क) **प्रथम ड्यूमा**—अप्रेल सन् 1806 में ड्यूमा का चुनाव हुआ। कुल 524 सदस्यों में से आधे से अधिक सदस्य ऐसे चुने गए जो निरंकुश शासन के विरुद्ध थे। ड्यूमा के प्रथम अधिवेशन में मांग की गई कि सभी राजनीतिक कैदी रिहा किए जायें, द्वितीय सदन (साम्राज्य परिषद्) के अधिकार कम किए जायें, जार के मन्त्रिगण ड्यूमा के प्रति उत्तरदायी रहें, फौजी कानून साम्राज्य भर में

कहीं भी लागू न रखा जाय और राज्य तथा मठों की जमीन एक लम्बे पट्टे पर किसानों को दे दी जायं। ड्यूमा ने एक विधेयक स्वीकार कर मौत की सजा समाप्त कर दी।

सम्राट के मन्त्रियों और साम्राज्य परिषद् ने ड्यूमा की सब मांगों का विरोध किया। सबसे अधिक झगड़ा मन्त्रियों के उत्तरदायित्व के प्रश्नों पर हुआ। ड्यूमा को अपनी मांगों पर अड़ी पाकर जार ने 22 जुलाई, 1906 को ड्यूमा को भंग कर दिया और नयी ड्यूमा के निर्वाचन के आदेश दिए।

(ख) द्वितीय ड्यूमा—5 मार्च, 1907 को जार ने द्वितीय ड्यूमा का उद्घाटन किया। इसमें निरंकुश शासन के विरोधी पहले से भी अधिक संख्या में चुनकर आए थे। इस ड्यूमा ने सब बड़ी जागीरों को जब्त करने, फौजी न्यायालयों को समाप्त करने और मंत्रि-मण्डल को ड्यूमा के प्रति उत्तरदायी बनाने के प्रस्ताव पास किए। इस बार भी ड्यूमा और जार में संघर्ष हुआ। 16 जून, 1907 को जार ने इस ड्यूमा को भी भंग कर दिया और नयी ड्यूमा के निर्वाचन के आदेश दिए। साथ ही एक अन्य आदेश द्वारा जार ने मताधिकार को अत्यन्त संकुचित कर दिया।

(ग) तृतीय ड्यूमा—मताधिकार सीमित कर दिए जाने के कारण तीसरी ड्यूमा में अधिकांश प्रतिक्रियावादी बड़े जमींदार चुने गए। 14 नवम्बर, 1907 को इस ड्यूमा का उद्घाटन जार ने किया। यह नाम की प्रतिनिधि सभा थी, अन्यथा यह जार की हां में हां मिलाने वाली और निरंकुश शासन की समर्थक थी। अतः अब रूस में जार का निरंकुश शासन फिर शुरू हो गया। 1905 की क्रान्ति के फलस्वरूप जनता ने जो अधिकार प्राप्त किए थे वे सब छिन गए और जनता कुछ न कर सकी। पर क्रान्ति की आग भीतर ही भीतर सुलगती रही। 1912 में चौथी ड्यूमा का निर्वाचन हुआ। जार का निरंकुश शासन चलता रहा और तब 1917 में रूस की वह महान् क्रान्ति हो गई जिसने रूस की काया ही पलट दी और उसे एक साम्यवादी देश बना दिया। इसके पहले 1914 में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो चुका था।

रूस की क्रांति (1917) और बोल्शेविक शासन की स्थापना

एक ओर जार की निरंकुशता बढ़ती रही और दूसरी ओर 1914 में प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने पर रूस को इसमें फंसना पड़ा। इंगलैण्ड, रूस, फ्रांस आदि मित्र राष्ट्र एक तरफ रहे और आस्ट्रिया, जर्मनी आदि का गुट दूसरी तरफ। 1917 के आते-आते जर्मनी सेनाओं का पीछे हटना शुरू हो गया। जर्मनी के पराजय के आसार प्रकट होने लगे। इसी वर्ष सन् 1917 में दो बहुत ही महत्वपूर्ण घटनायें घटीं—पहली घटना थी रूस की क्रान्ति और दूसरी घटना थी संयुक्त राज्य अमेरिका का मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लेना।

रूस में क्रान्ति

रूस की जनता में जार की निरंकुशता के विरुद्ध असन्तोष दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। युद्ध की गतिविधियों ने यह साबित कर दिया कि जार की निरंकुशता देश के लिए बहुत हानिकारक है। अन्ततः असन्तोष इतना बढ़ गया कि रूस में क्रान्ति हो गई और जार निकोलस द्वितीय गद्दी से हटा दिया गया (15 मार्च, 1917)। इसके कुछ ही समय बाद बोल्शेविकों ने सत्ता अपने हाथों में ले ली। तत्पश्चात्, 3 मार्च सन् 1918 को रूस ने जर्मनी के साथ सन्धि की। बाल्टिक के सूबे और पोलैण्ड सहित अपने सारे सूबे जर्मनी को देकर रूस युद्ध से अलग हो गया।

बोल्शेविक क्रांति के कारण

रूस में 1917 की इस बोल्शेविक क्रान्ति के प्रधानतः निम्नलिखित कारण थे—

(1) प्रजातंत्र की मांग—सन् 1905 में रूस की राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप रूसी जनता संवैधानिक शासन की मांग करने लगी। जार निकोलस द्वितीय ने शासन-सुधारों की घोषणा की। पार्लियामेन्ट (ड्यूमा) की स्थापना की गई। इससे जनता को कुछ राहत मिली। पर निकोलस ने ड्यूमा के प्रभाव को हर तरह कुचलने की चेष्टा की। उसने बार-बार ड्यूमा को भंग किया। इसके अतिरिक्त मताधिकार को अत्यन्त संकुचित बना कर तृतीय ड्यूमा में निरंकुशवादियों को भर दिया। इन सब कारणों से जनता का रोष बढ़ता गया।

(2) सेना में असंतोष—प्रथम महायुद्ध में रूसी सेना वीरता से लड़ी किन्तु सन् 1915 के बाद से रसद में कमी होने लगी। युद्ध-सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ रहा था। काफी संख्या में सैनिक मर रहे थे। इन घटनाओं से सैनिक असन्तुष्ट हो गए। ऐसी स्थिति में क्रान्ति का होना आवश्यक था।

(3) निरंकुश शासन का विरोध—रूस के सभी जारों ने जनता पर घोर अत्याचार किए। जार निकोलस द्वितीय की निरंकुशता तो अपनी सीमा लांघ गई। अतः जनता क्रान्ति की तैयारियां करने लगी। केवल मौके की तलाश रही। रूस ने अपने अधिकृत राज्यों में भी रूस की संस्थाओं एवं रूस के नियमों को बलपूर्वक स्थापित कर दिया। इससे उन राज्यों में रूस के निरंकुश शासन के विरोध में भारी आन्दोलन चलता रहा। पोलैण्ड, फिनलैण्ड तथा यहूदियों ने निरंकुश शासन का तख्ता पलटने का प्रयत्न किया।

(4) क्रांतिकारी साहित्य की रचना—रूस में बौद्धिक विकास हो चुका था। टाल्सटाय, तुर्गनेव, दास्तोविस्की आदि रूसी विद्वानों ने क्रान्तिकारी साहित्य लिखे और जारशाही की कटुआलोचना की। इनसे शिक्षित वर्ग सुधारों की मांग करने लगा।

(5) जार की अयोग्यता—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस का शासन स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश था। जार दैवी सिद्धान्त में विश्वास रखता था। इसमें

राजनीतिज्ञता और कूटनीतिक कुशलता की कमी थी। उसे शासन पद्धति का भी ज्ञान न था। वह रूस की परिस्थितियों से पूर्णतया अनभिज्ञ था।

(6) **मध्यम वर्ग के विचारों में परिवर्तन**—उस समय शिक्षा का विकास हो गया था। लोगों के विचार निरन्तर बदल रहे थे। पश्चिमी भारत में लिखी पुस्तकों का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ। इससे मध्यम वर्ग के लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। नवयुवकों को अपनी हीन दशा का ज्ञान हुआ। निरंकुश शासन की बुराइयों का उन्हें स्पष्ट ज्ञान होने लगा। अतः वे प्रजातन्त्रीय शासन की मांग करने लगे।

(7) **व्यावसायिक क्रांति का प्रभाव**—यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। उसका प्रभाव रूस पर भी पड़ा। चारों ओर कारखानों का जाल-सा बिछ गया। रूस की ग्रामीण जनता शहरों में आकर बस गई। अब वह पहले से अधिक चतुर हो गयी। लोगों ने अपने संगठन बनाए। अन्य देशों के विचारों की सूचना भी रूस में पहुंच रही थी। इस प्रकार रूसियों में संगठन की प्रबल भावना विकसित होने लगी।

(8) **नागरिक अधिकारों के प्रति जागृति**—सन 1905 की क्रान्ति के बाद रूस में वैध राजसत्ता स्थापित हो चुकी थी। इसके द्वारा जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनी। उसने अपने मताधिकार का प्रयोग करना शुरू किया। नागरिकों को लोकमत का प्रभाव ज्ञात हुआ। लोकमत द्वारा सरकार को किस प्रकार झुकाया जा सकता है, इसकी बहुत कुछ जानकारी उन्हें हो गई। अतः लोकतन्त्रात्मक सत्ता की मांग के लिए क्रांति के रूप में आन्दोलन शुरू हो गए।

(9) **तत्कालीन कारण**—उपरोक्त सभी कारणों से क्रान्ति का बारूद पूरा इकट्ठा हो गया। जो कमी रही उसे दो मुख्य तात्कालिक कारणों ने पूरा कर दिया—

(i) **युद्ध में पराजय**—1914 में प्रथम महायुद्ध शुरू होने पर रूस में क्रान्ति का जोश समाप्त सा होने लगा, लेकिन युद्ध में पराजय से क्रान्ति के चिन्ह दुगुने जोर से प्रकट हो गए। 1917 के प्रारम्भिक महिनों से पूर्वी मोर्चे पर रूसी सेना के पराजय की खबरें आने लगी। समुचित युद्ध सामग्री और खाद्यान्न के अभाव में रूसी सैनिक बे-मौत मारे जाने लगे। रूस की फौज चारों ओर से हारने लगी। इन परिस्थितियों में फौज में राज्य-द्रोह की भावना घर कर गई।

(ii) **अकाल की स्थिति**—एक तरफ रूसी फौजों की पराजय हो रही थी और दूसरी तरफ 1916–17 के शीतकाल में देश में अकाल की स्थिति पैदा हो गई। रूस के जार ने किसानों को भी युद्ध-क्षेत्र में भेज दिया था। अतः कृषि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। अन्न का उत्पादन कम हो गया। सर्वत्र अन्न के लिए त्राहि-त्राहि मच गई। कपड़ा, ईंधन, अनाज और अनिवार्य वस्तुओं की भारी कमी हो गई। मूल्य इतने बढ़ गए कि निर्धन मनुष्यों के लिए जीवन-निर्वाह असम्भव

हो गया। लेकिन सामन्त और दरबारी अपने भोग-विलास में ही लगे रहे। उन्होंने जनता के कष्टों की कोई परवाह नहीं की। इतना ही नहीं रूस की भ्रष्ट नौकरशाहों और मुनाफाखोर पूंजीपतियों में अपवित्र गठवन्धन हो गया।

क्रांति का विस्फोट और जारशाही का अन्त—इस तरह क्रान्ति के पूर्ण लक्षण प्रकट हो गये। केवल बारूद में चिनगारी लगने की देरी थी। 7 मार्च, 1917 को मजदूर संघ ने एक जुलूस निकाला जो नारे लगाता हुआ रूस की राजधानी पेट्रोग्रॉड पहुंचा। भूखे मजदूरों ने कपड़े और रोटी वालों की दुकानें लूट लीं। जुलुस का दमन करने के लिए जार ने सेना को गोली चलाने की आज्ञा दी। सेना ने आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। सैनिक विद्रोहियों से मिल गये। 8 मार्च को कपड़ा-मिलों की श्रमिक स्त्रियों ने भी हड़ताल कर दी और 9 मार्च को सार्वजनिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया। 11 मार्च को जार ने मजदूरों को काम पर जाने की आज्ञा दी। ड्यूमा का अन्त कर दिया गया, किन्तु उसने खत्म होने से इन्कार कर दिया। अन्त में पिस्काव नगर में जार को वन्दी बना लिया गया।

अब रूस की शासन-सत्ता सम्भालने की शक्ति केवल ड्यूमा संस्था में थी। उसने जार निकोलस से त्याग-पत्र मांगा। 14 मार्च, 1917 को एक उदारवादी सरकार जार्ज ल्वोव (Lvov) की अध्यक्षता में स्थापित हुई। जार्ज ल्वोव रूस का प्रधानमन्त्री बना। 15 मार्च को निकोलस ने त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार रूस में निरंकुश शासन का अन्त हो गया।

उदारवादी सरकार के कार्य

प्रिन्स ल्वोव के नेतृत्व में जो अन्तर्कालीन सरकार बनी उसके सदस्य कुलीन या मध्यम वर्गों के लोग थे। यद्यपि क्रान्ति का श्रेय मजदूरों को था पर शासन में उनका कोई हाथ न था।

मित्र-राष्ट्रों ने रूस में जार के निरंकुश शासन के स्थान पर लोकतान्त्रिक शासन की स्थापना का स्वागत किया। उन्होंने इस अन्तर्कालीन सरकार को मान्यता प्रदान करदी।

अन्तर्कालीन सरकार द्वारा अधिकांश राजनीतिक वन्दियों को स्वतन्त्र कर दिया गया। यहूदियों के विरुद्ध लागू कानूनों को रद्द कर दिया गया। प्रशासन को सुधारने की कोशिश की गई। भाषण, प्रेस, लेखन आदि पर लगाये गये प्रतिवन्ध हटा दिये गये। मृत्यु-दण्ड समाप्त कर दिया गया। जार द्वारा रूस से निष्कासित व्यक्तियों को पुनः आमन्त्रित किया गया। ग्रीक चर्च के विशेष अधिकार समाप्त किये गये। देश के लिए एक नया शासन विधान बनाने की व्यवस्था की गई। वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त नई सरकार ने पोलैंड को संविधान शासन देने का वचन दिया। साथ ही अन्तर्कालीन सरकार ने युद्ध को जारी रखकर दुगुने उत्साह से लड़ने की घोषणा की।

समस्यायें—अन्तर्कालीन उदारवादी सरकार के सामने अनेक समस्यायें उपस्थित हुई। उसके सामने सबसे बड़ी समस्या अपनी सत्ता को दृढ़ और अपरिवर्तनशील बनाना था। श्रमिक वर्ग शासन-सत्ता अपने हाथ में लेना चाहता था। जब देश में अव्यवस्था और सुदूर प्रान्तों में अराजकता की स्थिति थी तभी किसानों और मजदूरों ने जगह-जगह अपने संगठन बना लिये थे, जिन्हें सोवियतम् कहा गया था। इन सोवियतों में सैनिक प्रतिनिधि भी शामिल थे। इन सोवियतों ने अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति में वे सब काम करने आरम्भ कर दिये जिन्हें सरकार किया करती थी। श्रमिकों के इन संगठनों में साम्यवादियों या बोल्शेविकों का जोर था। सरकार और इन सोवियतों में बड़ा मतभेद था जो तेजी से उग्र होता गया।

उदारवादी सरकार के विरुद्ध असन्तोष इसलिए भी बढ़ा कि उसने युद्ध जारी रखने का निश्चय किया था। साम्यवादी विचार के लोग युद्ध जारी रखने के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि युद्ध में फंसे रहने पर शासन की बुराइयां दूर नहीं की जा सकती और लोकतन्त्र को सफल नहीं बनाया जा सकता। सैनिक भी लड़ते-लड़ते ऊब चुके थे और जनता युद्ध के बोझ से छुटकारा चाहती थी। इन परिस्थितियों में यह प्रश्न बड़े विवाद की जड़ बन गया कि रूस युद्ध को जारी रखे या युद्ध से अलग हो जाय।

असंतोष के इसी वातावरण में सोवियतों का अखिल रूसी अधिवेशन मई, 1917 में मास्को (Moscow) में हुआ। अधिवेशन में स्पष्ट और जोरदार शब्दों में घोषणा की गई कि केवल राजनीतिक क्रान्ति से ही काम नहीं चलेगा, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भी बहुत जरूरी है।

केरेन्सकी–सरकार का बनना

जनता के बढ़ते हुए विरोध को देखकर प्रिन्स ल्वोव और उसके साथियों की उदारवादी सरकार ने इस्तीफा दे दिया। इसके बाद केरेन्सकी (Kerensky) के नेतृत्व में एक नई सरकार बनी। शासन-सत्ता अब समाजवादियों के हाथ में आ गई।

केरेन्सकी-सरकार भी इन हालातों में सुधार नहीं ला सकी। मजदूरों, किसानों और सैनिकों में असन्तोष तीव्र गति से बढ़ता गया। केरेन्सकी-सरकार ने युद्ध-नीति को बढ़ावा दिया, पर उसकी नीति असफल रही। एक तो साम्यवादियों ने बुरी तरह विरोध किया और दूसरे जर्मन सेनाएं लगातार आगे बढ़ती रही। हालात इतने बिगड़ते गये कि मजबूर होकर केरेन्सकी-सरकार को भी 6 नवम्बर, 1917 को इस्तीफा देना पड़ा।

दूसरी राज्य-क्रान्ति

दूसरे दिन अर्थात् 7 नवम्बर, को रूस में दूसरी राज्य क्रांति-बोल्शेविक क्रांति हो गई। बोल्शेविकों ने पेट्रोगॉड के महत्वपूर्ण सरकारी दफ्तरों और भवनों

पर कब्जा कर लिया। राज्य-सत्ता वोल्शेविकों के हाथ में आ गई। इस क्रांति का नेता लेनिन (Lenin) था। उसका दाहिना हाथ ट्रॉट्स्की (Trotsky) था।

लेनिन—लेनिन का जन्म 1870 में हुआ था। रूस की क्रांति को लाने में उसने जबरदस्त कार्य किया था। वह एक साम्यवादी था जिसे उग्र विचारों के कारण जार ने निर्वासित कर दिया था। सन् 1895 में लेनिन को साइबेरिया भेज दिया गया जहां वह 5 वर्ष तक कैद रहा। सन् 1900 में कैद से छूटकर वह स्विट्जरलैंड चला गया। रूस से वाहर रहकर वह क्रांतिकारी विचारों का जोरों से प्रचार करता रहा और गुप्त रूप से क्रांतिकारी साहित्य रूस में पहुँचाता रहा। रूस की पहली क्रांति (मार्च, 1917) का समाचार सुन कर लेनिन रूस लौट आया। उसके आने से वोल्शेविक दल में एक नयी जान आ गई। नवम्वर, 1917 की क्रांति द्वारा लेनिन ने सत्ता हथियाली।

लेनिन की घोषणा—राज्य सत्ता हाथ में आते ही लेनिन ने सरकारी आदेश निकाल कर जमीनों पर से जमींदारों के स्वामित्व विना मुआवजा दिये समाप्त कर दिया। किसानों, मजदूरों और सैनिकों की सोवियतों को शासन की इकाई घोषित की गई। पुराने सरकारी अफसरों के स्थान पर वोल्शेविक पार्टी के सदस्यों की नियुक्ति की जाने की घोषणा की गई।

गृह-युद्ध

वोल्शेविक सत्ता कायम हो जाने के वावजूद रूस में उनके विरोधियों की कमी नहीं थी। वोल्शेविकों को अपने विरोधियों से लगभग 3 साल तक नवम्वर, 1917 से लेकर सन् 1919 के आरम्भ तक लड़ना पड़ा। इन विरोधियों में तीन प्रकार के लोग थे—(1) रमानोफ (Romanoff) राजवंश के समर्थक, जो जार शासन को फिर से कायम करना चाहते थे। (2) लोकतन्त्रवादी, जो फ्रांस और अमेरिका के नमूने का लोकतान्त्रिक शासन स्थापित करना चाहते थे, एवं (3) मेन्शेविक (Menshevik) जो साम्यवादी होते हुए भी समाज के आर्थिक संगठन को एकदम क्रान्तिकारी उपायों से वदलने के खिलाफ थे। तीनों में मेन्शेविक प्रवल थे।

वोल्शेविकों के विरोधियों को मित्र-राष्ट्रों की सहायता प्राप्त थी। अन्त में, शासन हथियाने के लिए मेन्शेविकों ने वोल्शेविकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। मेन्शेविक सेनाओं ने वोल्शेविक सरकार के विरुद्ध चारों ओर हर दिशा में युद्ध छेड़ा। विदेशी राष्ट्रों की उन्हें पूरी सहायता मिलती रही। फिर भी चारों तरफ शत्रुओं को हरा कर वोल्शेविक गृह-युद्ध में सफल हुए। मित्र-राष्ट्रों ने जिस आशा से विरोधियों की सहायता की थी, वह समाप्त हो गई। वोल्शेविकों की आन्तरिक स्थिति सुदृढ़ हो गई।

वोल्शेविक सरकार

1917 की क्रान्ति से रूस में जो वोल्शेविक सरकार स्थापित हुई वह

संसार के लिए एकदम नई चीज थी। संसार भर में अभी तक कहीं भी और कभी भी ऐसी सरकार नहीं बनी थी। इस सरकार के मुख्य अंग ये थे—

(1) **अखिल रूस सोवियत कांग्रेस**—इसमें स्थानीय और प्रान्तीय सोवियतों के प्रतिनिधि होते थे। इन प्रतिनिधियों की संख्या लगभग 1300 थी। इस सोवियत कांग्रेस में ही सरकार की सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित थी।

(2) **अखिल रूसी केन्द्रीय कार्य-समिति**—इसके सदस्यों की संख्या 200 थी जिन्हें सोवियत कांग्रेस चुनती थी। यह कार्य-समिति ही नये कानून बनाती थी जो अन्तिम स्वीकृति के लिए सोवियत कांग्रेस के सामने पेश किए जाते थे।

(3) **पीपुल्स कमीसार की कौंसिल**—यह कौंसिल मन्त्रि-मण्डल जैसी थी। शासन के 18 विभाग थे ; प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष कमीसार कहलाता था। इस तरह कौंसिल में 18 कमीसार थे। शासन का सारा कार्य ये ही करते थे।

बोल्शेविक सरकार की इकाई स्थानीय सोवियतें थीं। प्रत्येक नगर और गांव में सोवियतें कायम करदी गई थी।

बोल्शेविक सरकार ने मताधिकार 18 वर्ष से अधिक आयु वाले प्रत्येक ऐसे स्त्री-पुरुष को दे दिया जो काम करके अपनी जीविका कमाता हो। इस सरकार ने मास्को को रूस की राजधानी बनाया। देश के झण्डे का रंग लाल निश्चित किया गया जिस पर हंसिया और हथोड़ा बना था। हंसिया किसानों का और हथोड़ा मजदूरों का प्रतीक माना गया। लेनिन पीपुल्स कमीसार का प्रधान बना। 1924 में लेनिन की मृत्यु हुई।

बोल्शेविक सरकार की नवीन शासन की अन्य प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार थीं—

(1) सब सम्पत्ति पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं रहा।

(2) सुगमतापूर्वक जोत सकने योग्य भूमि ही किसानों को दी जाने की व्यवस्था की गई।

(3) समस्त मिलों और कारखानों का संचालन मजदूरों ने अपने हाथ में लेकर अपनी कौंसिल को सौंप दिया।

(4) इन कौंसिलों की देखभाल के लिए राष्ट्रीय श्रमिक कौंसिल स्थापित की गई।

(5) राजतन्त्र के समय लिया गया ऋण सरकार ने देना अस्वीकार कर दिया।

(6) प्रत्येक व्यक्ति को श्रमानुसार भोजन-वस्त्र आदि दिये जाने का निश्चय किया गया।

(7) जार के समय की गुप्त सन्धियां अमान्य ठहरा दी गई।

(8) राष्ट्रीयता को मान्यता दी गई।

(9) शिक्षा को चर्च से और चर्च को राज्य से पृथक कर दिया गया।

(10) कृषकों तथा श्रमिकों की सन्तति को राज्य की ओर से निःशुल्क शिक्षा दी जाने लगी।

(11) विदेशों से आकर बसने वालों को समस्त राजनीतिक अधिकार दिये गये।

रूस की राज्य-क्रांति का महत्व

रूसी क्रान्ति का प्रभाव सारे संसार के राष्ट्रों पर पड़ा। इस कारण बीसवीं शताब्दी के इतिहास में इस क्रान्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है।

(1) **नवीन साम्यवादी विचारों का जन्म**—रूसी क्रान्ति ने रूस में नवीन समाजवादी ढांचा उपस्थित किया। इसके अनुसार- नई सभ्यता, नई संस्कृति तथा नये समाज का पक्ष लिया जाने लगा। इस क्रान्ति ने विश्व-भर में नवीन साम्यवादी विचारों का प्रचार कर दिया।

(2) **शासन पर कृषकों व श्रमिकों का अधिकार**—इस क्रान्ति ने निरंकुश शासन की जड़ें हिला दीं। आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में पूंजीपतियों एवं कुलीन वर्गों का प्रभाव समाप्त कर दिया। सर्व-साधारण किसान तथा मजदूर जनता की शासन-सत्ता स्थापित करदी गई। शासन में श्रमिकों एवं कृषकों का आधिपत्य स्थापित हो गया।

(3) **नई सभ्यता, संस्कृति तथा समाज का पक्षपाती**—इस क्रान्ति से रूस में नवीन सभ्यता का जन्म हुआ। साम्यवादियों की नवीन विचारधारा ने संस्कृति, सभ्यता एवं समाज आदि सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिये।

(4) **यूरोप में अधिनायकवाद**—रूस की साम्यवादी विचारधारा ने इटली और जर्मनी में नाजीवाद को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार यूरोप में फिर से अधिनायकवाद स्थापित होने लगा।

(5) **अंतर्राष्ट्रीय तनाव का जन्म**—रूसी क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य नवीन समाज की स्थापना करके विश्व-क्रान्ति का नारा लगाना था। मित्र राष्ट्रों ने इसे रोकने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप विश्व साम्यवादी गुट और पूंजीपति गुट में विभक्त हो गया।

क्रान्ति से रूस में जारशाही का अन्त हो गया। वहां नवीन शासन पद्धति का जन्म हुआ जिसका नाम 'समाजवादी सोवियत गणतन्त्र संघ' रखा गया। देश का शासन पूर्णरूप से साम्यवादियों के हाथ में आ गया। इस क्रांति ने रूस को विदेशियों के हाथों में जाने से बचा लिया। यह साम्यवाद की प्रथम विजय थी।

पूर्वी समस्या और बर्लिन व्यवस्था

(1871–1914)

पूर्वी समस्या का अभिप्राय उन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से है जो यूरोप में टर्की साम्राज्य के विघटन से उत्पन्न हुई थी। पूर्व शब्द का उपयोग टर्की साम्राज्य के लिए किये जाने का कारण यह था कि टर्की साम्राज्य ही एकमात्र पूर्व (East) था जिससे यूरोप के राजनीतिज्ञों का सामूहिक-तौर पर सम्बन्ध था।

क्रीमिया के युद्ध के बाद सन् 1856 में जो पैरिस-सन्धि सम्मेलन हुआ था उसमें मृतप्राय टर्की साम्राज्य को जीवित रखने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन अन्त में पैरिस सम्मेलन के निर्णयों का कोई परिणाम नहीं निकला। फिर भी 1856 के तत्काल बाद पूर्वी समस्या से सम्बन्धित कोई ऐसी उलझन पैदा नहीं हुई जिसके कारण यूरोप की शांति खतरे में पड़ जाए। हां, टर्की साम्राज्य में राष्ट्रीयता की भावना निरन्तर प्रगति करती रही। इसी के फलस्वरूप वलेशिया और माल्डेविया ने एक होकर स्वतन्त्र रूमानिया नामक राज्य का निर्माण किया।

स्वतन्त्र रूमानिया के उदय के साथ एक महत्वपूर्ण घटना यह भी हुई कि बाल्कान प्रायद्वीप में स्लाव एकता आन्दोलन (Pan-Slavic Movement) ने जोर पकड़ा। इस आन्दोलन के साथ रूस की सक्रिय सहानुभूति थी। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप टर्की के विरुद्ध असंतोष तेजी से बढ़ने लगा और टर्की ने भी अपना दमनचक्र तेज कर दिया।

एक ओर तो टर्की की दमनकारी नीति अधिकाधिक कठोर होती गई और दूसरी तरफ स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता से प्रेरित बाल्कान की ईसाई प्रजा टर्की-सुल्तान की निरंकुशता का घोर विरोध करने लगी। बाल्कान राज्यों में टर्की शासन के विरुद्ध विविध षडयन्त्र रचे जाने लगे। अखिल-स्लाव या स्लाव-एकता-आन्दोलन निरन्तर बल पकड़ता गया। समस्त यूरोप की स्लाव जाति के लोगों को एक सूत्र में बांधना इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था। इस आन्दोलन की सफलता का परिणाम होता टर्की साम्राज्य का विनाश।

आन्दोलन से चिढ़कर टर्की का व्यवहार ईसाइयों के प्रति पहले से भी अधिक खराब हो गया। टर्की की आर्थिक दशा दयनीय थी। अतः उसने ईसाइयों

से अधिक धन वसूल करने की नीति अपनायी। टर्की के सरकारी अधिकारी किसानों से भी मनमाना रुपया वसूल करने लगे।

बोसनिया और हर्जगोविना विद्रोह—सरकारी अधिकारियों के अत्याचारों से परेशान होकर बोसनिया (Bosnia) और हर्जगोविया (Harzgovina) के किसानों ने सन् 1875 में विद्रोह कर दिया। वाल्कान मान्टेनेग्रो (Montenegro) और सर्विया के राज्यों ने विद्रोहियों की सहायता की। विद्रोहियों के हाथों टर्की सेनाओं को मुंह की खानी पड़ी।

बल्गेरिया में विद्रोह—विद्रोह की लपटें शीघ्र ही बल्गेरिया पहुंची। इससे कुस्तुन्तुनिया के आस-पास के क्षेत्रों में तुर्क शासन को खतरा पैदा हो गया। अतः टर्की ने अपनी पूरी शक्ति से विद्रोह को कुचल दिया। 12 हजार से भी अधिक नर-नारियों और बालकों को मौत के घाट उतार दिया गया तथा 65 गांव जलाकर राख कर दिये गये।

यूरोप की प्रतिक्रिया—अमानवीय अत्याचारों का समाचार सुनकर समूचा यूरोप कांप गया। यूरोप की जनता टर्की सुल्तान की निरंकुशता रोकने की मांग करने लगी। इंगलैंड के उदार-दलीय नेता ग्लेडस्टन ने गर्जना की–"टर्की को उस क्षेत्र से एकदम हमेशा के लिये निकाल बाहर कर दिया जाना चाहिए जिसे उसने उजाड़ डाला है और अपवित्र कर डाला है।" ग्लेडस्टन ने कहा कि यूरोप से टर्की का बोरिया-बिस्तर बांध दिया जाना चाहिए। लेकिन इंगलैण्ड की तत्कालीन अनुदार दलीय सरकार टर्की को कमजोर नहीं होने देना चाहती थी, क्योंकि इससे रूस के प्रसार का भय था। इसीलिए इंगलैण्ड ने टर्की के विरुद्ध कोई ठोस कदम नहीं उठाया और अन्य यूरोपीय राज्य भी चुप रहे।

सर्विया और मान्टेनेग्रो में विद्रोह—यूरोपीय सरकारों की निष्क्रियता के बावजूद बाल्कान में टर्की के विरुद्ध असंतोष और बल्गेरिया के प्रति सहानुभूति में वृद्धि होती रही। शीघ्र ही सर्विया और मान्टेनेग्रो ने टर्की के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कुस्तुन्तुनिया स्थित यूरोपीय राजदूतों ने टर्की के सुल्तान से मांग की कि सर्विया, रूमानिया और मान्टेनेग्रो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करदी जाए तथा बल्गेरिया, बोसनिया और हर्जगोविना को टर्की-साम्राज्य के अधीन अर्द्ध-स्वतन्त्र माना जावे। टर्की के सुल्तान ने यूरोपीय राजदूतों की दोनों मांगों को अस्वीकार कर किया।

रूस टर्की युद्ध (1877–1878)

सुल्तान की इस इन्कारी के कारण यूरोप का जनमत टर्की के विरुद्ध हो गया। टर्की के शत्रु रूस ने इसे अच्छा मौका समझते हुए 24 अप्रेल, 1877 को टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदी। रूस का विश्वास था कि यूरोप का कोई भी राज्य टर्की के पक्ष में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

युद्ध और सानस्टेफानो (Sanstephano) की संधि

रूस की सैन्य शक्ति के सामने टर्की की शक्ति अति साधारण थी। रूसी सनिकों ने डैन्यूब नदी को पार करके टर्की को अनेक लड़ाइयों में हराया। सबसे महत्वपूर्ण लड़ाई डैन्यूब और वाल्कान के बीच स्थित प्लेवना के लिए हुई। यह युद्ध इतिहास में 'प्लेवना के घेरे' (Siege of Plevena) के नाम से विख्यात है। यह घेरा पांच महीने तक रहा। टर्की-फौजों ने बड़ी वीरता से शत्रु का मुकाबला किया पर अन्त में विशाल रूसी सेना के सामने उस्मानपाशा को 43 हजार सैनिकों सहित आत्म-समपर्ण कर देना पड़ा।

प्लेवना के पतन ने टर्की की कमर तोड़ दी। रूसी फौजें कुस्तुन्तुनिया के निकट सानस्टेफानों नामक गांव तक पहुंच गई। टर्की सुल्तान ने संधि के लिए प्रार्थना की जिसे रूस ने मान लिया। रूस इसलिए राजी हुआ कि इंगलैण्ड और आस्ट्रिया उसके विरोध की तैयारी में जुट गये थे। इंगलैण्ड का प्रधानमन्त्री डिजरेली कुस्तुन्तुनिया पर रूस का अधिकार देखने को तैयार नहीं था।

रूस और टर्की में 3 मार्च सन् 1878 के दिन सम्पन्न हुई सानस्टेफानों (Sanstephano) की संधि की मुख्य शर्तें ये थीं—

1. टर्की ने सर्विया, मान्टेनेग्रो और रूमानिया की पूर्ण स्वतन्त्रा स्वीकार करली।

2. बल्गेरिया को स्वशासन का अधिकार प्रदान किया गया। बल्गेरिया राज्य का विस्तार किया गया। इसका क्षेत्र डैन्यूब नदी से ऐजियन सागर तक तथा कालासागर से अल्बानिया तक कर दिया गया।

3. बोसनिया, हर्जगोविना और आर्मीनिया में शासन-सुधार करने की बात स्वीकार की गई।

4. टर्की ने रूस को क्षतिपूर्ति के तौर पर भारी रकम और आर्मीनिया के कुछ प्रदेश तथा दोब्रुजा (Dobruja) का प्रदेश देना स्वीकार किया।

5. टर्की डैन्यूब के तट पर स्थित अपने किलों को तोड़ देने के लिए राजी हो गया।

संधि का परिणाम—सानस्टेफानों की संधि से बाल्कान में जहां टर्की का प्रभाव बहुत कम हो गया वहां रूस का प्रभाव बढ़ गया। इंगलैण्ड और आस्ट्रिया रूसी प्रभाव से खुश नहीं हुए। इन दोनों का मत था कि पूर्वी समस्या का सम्बन्ध केवल रूस और टर्की से ही न होकर यूरोप के सभी देशों से है, अतः संधि पर यूरोप के सभी प्रमुख राज्यों के सम्मेलन में पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

रूस पहले तो संधि पर पुनर्विचार के लिए तैयार नहीं हुआ, पर इंगलैण्ड को युद्ध के लिए तैयार पाकर बाद में सहमत हो गया।

बर्लिन सम्मेलन और बर्लिन की सन्धि (1878)

रूस के सहमत होने पर यूरोपीय राज्यों का एक सम्मेलन जर्मन चान्सलर बिस्मार्क की अध्यक्षता में हुआ। इसमें पूर्वी समस्या पर नए सिरे से विचार करके

एक संधि तैयार की गई जिसे बर्लिन की संधि कहते हैं। इस संधि पर 13 जुलाई सन् 1878 को हस्ताक्षर हुए।

बर्लिन सम्मेलन में ईमानदार दलाल के रूप में बिस्मार्क ने सभापति का आसन ग्रहण किया। लेकिन शुरू से अन्त तक सम्मेलन में इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री डिजरेली का ही प्रभाव छाया रहा। बिस्मार्क तक ने उसके प्रभाव को स्वीकार किया। संधि में पूर्वी समस्या का हल इस प्रकार किया गया—

1. सर्बिया, मोन्टेनेग्रो और रूमानिया पर से टर्की का आधिपत्य समाप्त कर दिया गया। इन तीनों को पूर्ण स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया।

2. दोब्रुजा का प्रदेश रूस से लेकर रूमानिया को दे दिया गया और बेसारबिया का प्रदेश रूमानिया से लेकर रूस को दिया गया।

3. सानस्टेफानों की संधि द्वारा विस्तृत बल्गेरिया राज्य को तीन भागों में बांट दिया गया। पहले भाग मेसेडोनिया (Macedonia) पर टर्की का पूर्ण आधिपत्य माना गया। दूसरे भाग पूर्वी रोमेलिया को टर्की के अधीन स्वशासन का अधिकार दिया गया। यह भी तय हुआ कि पूर्वी रोमेलिया का गवर्नर ईसाई होगा जिसे टर्की का सुल्तान नियुक्त करेगा। तीसरे भाग बल्गेरिया खास को इस प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया गया कि वह टर्की के सुल्तान को वार्षिक कर अदा करे।

4. ब्रिटेन को साइप्रस पर आधिपत्य और हुकूमत करने का अधिकार मिला।

5. बोसनिया और हर्जगोविना के प्रदेश नाममात्र के लिए टर्की के अधीन रखे गये। इन दोनों पर शासन करने का अधिकार आस्ट्रिया को दिया गया। इस प्रकार व्यवहार में ये दोनों प्रदेश आस्ट्रिया को मिल गए।

बर्लिन सम्मेलन में फ्रांस ने ट्यूनिस, इटली ने अल्बानिया एवं ट्रिपोली और यूनान ने क्रीट, ऐपिरस, थेसली तथा मैसेडानिया पर दावा किया। पर उस समय इन दावों पर कोई निर्णय नहीं हुआ। हां, बर्लिन कांग्रेस ने टर्की सुलतान से यह सिफारिश अवश्य की कि वह थेसली और एपिरस का हिस्सा यूनान को दे दे। सुल्तान ने तीन वर्ष बाद मजबूर होकर ऐसा ही किया।

एक बात मार्के की यह रही कि जर्मनी ने किसी प्रदेश पर दावा नहीं किया।

बर्लिन-व्यवस्था का मूल्यांकन—यूरोप के आधुनिक इतिहास में बर्लिन-संधि का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। निकट पूर्व की जटिल समस्या को सुलझाने की दिशा में यह उत्साहवर्द्धक कदम था।

बर्लिन-सन्धि ने बाल्कान राष्ट्रों और टर्की के हितों की उपेक्षा की। इसने इंगलैंड और आस्ट्रिया को अलग हानि पहुँचायी। पेरिस की सन्धि द्वारा यूरोपीय राज्यों ने टर्की को कमजोर न होने देने का निश्चय किया था, पर बर्लिन-सन्धि ने

टर्की को एकदम कमज़ोर कर दिया। टर्की को बचाने का दम भरने वाले इंगलैण्ड और आस्ट्रिया खुद टर्की का बहुत-सा भाग हड़प बैठे।

बर्लिन-सन्धि में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की पूर्ण उपेक्षा की गई। बल्गेरिया के नवीन राज्य का निर्माण करते हुए राष्ट्रीयता का प्रश्न दृष्टि से ओझल कर दिया गया। बर्लिन-सम्मेलन के राजनीतिज्ञ यह भूल गये कि बाल्कान प्रायद्वीप की एकमात्र समस्या राष्ट्रीयता ही है।

बर्लिन-सम्मेलन की इन भूलों के, बाद में विनाशकारी परिणाम निकले। 1912 और 13 में बाल्कान-युद्ध प्रारम्भ हो गया और बाद में प्रथम विश्व-युद्ध का विस्फोट हुआ।

बर्लिन-सम्मेलन की सबसे बड़ी सफलता यह बतलाई गई कि इसने टर्की-साम्राज्य को सर्वनाश से बचा लिया। लेकिन इस दावे में आंशिक सच्चाई ही थी। इसमें सन्देह नहीं कि बर्लिन-सन्धि द्वारा लड़खड़ाता हुआ टर्की कुछ समय के लिए सम्भल गया, लेकिन क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से टर्की साम्राज्य पहले से आधा हो गया। बर्लिन-सन्धि से वास्तव में टर्की को कोई नवजीवन प्राप्त नहीं हुआ। मृत्यु-शैय्या पर लेटे हुए टर्की का दुःख कुछ दिनों के लिए और बढ़ गया।

बर्लिन-सन्धि की यह विशेषता रही कि इसके द्वारा इंगलैंड, आस्ट्रिया और रूस के परस्पर विरोधी हितों में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। सानस्टेफानू की सन्धि से केवल रूस ने ही लाभ उठाया था, पर बर्लिन की सन्धि द्वारा इंगलैंड और आस्ट्रिया भी लूट के बंटवारे में रूस के साझेदार हो गए।

पूर्वी समस्या : बर्लिन–सन्धि से बुखारेस्ट की सन्धि तक (1878–1913)

अपनी त्रुटियों के कारण बर्लिन-सन्धि पूर्वी समस्या का स्थायी समाधान नहीं कर सकी। सन्धि की शर्तों का शीघ्र ही उल्लंघन होने लगा। बाल्कान के लोगों ने सन्धि के प्रति बड़ी निराशा और उपेक्षा व्यक्त की। यूरोप के राज्य भी सन्धि के प्रति विशेष वफ़ादार न रहे।

विशेष परिस्थितियां

बर्लिन-सन्धि के बाद पूर्वी समस्या की जो विभिन्न उलझनें पैदा हुईं, उन पर विचार करने से पहले हमें उन विशेष परिस्थितियों को देख लेना चाहिए, जिन्होंने इस समस्या को नया रूप दिया।-

1. बर्लिन-सन्धि के अनुसार टर्की के सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार करने और उसकी राजनीतिक प्रगति के लिए संवैधानिक सुधार करने का वादा किया था। किन्तु सुल्तान ने अपने वादे की कोई परवाह नहीं की।

2. बाल्कान प्रायद्वीप के सर्बिया, मोन्टेनेग्रो तथा रूमानिया देश स्वतन्त्र हो चुके थे। उनकी इस नवीन स्थिति को बाल्कान के पराधीन राज्य ललचाई

नजरों से देखने लगे। वे भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक हो उठे। इन राज्यों में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। टर्की ने क्रूरता से उनका दमन करने को कमर कस ली। सुलतान ने सोचा कि आधा साम्राज्य तो खतम हो ही चुका है, अगर ये राज्य भी स्वतन्त्र हो गए तो टर्की-साम्राज्य का नामोनिशान मिट जायेगा।

3. बाल्कान की जिन जातियों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी वे यह कोशिश करने लगी कि जो स्व-जातीय बन्धु टर्की के अधीन थे उन्हें अपने में मिला लें। फलस्वरूप विभिन्न जातियों के हित आपस में टकराने लगे और उनमें संघर्ष हुए।

4. राष्ट्रीयता की लहर टर्की तक जा पहुंची। टर्की में नवयुवक आन्दोलन का उदय हुआ। टर्की ने पुनरुत्थान का प्रयास किया, पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण उसे सफलता नहीं मिली।

5. आस्ट्रिया की महत्वाकांक्षा ने जर्मनी का सहारा पाकर बड़ा सिर उठाया। बाल्कान में जबरदस्ती प्रवेश करके आस्ट्रिया ने ऐसे कार्य किए जिनसे रूस और सर्बिया नाराज हो गए। यह स्थिति प्रथम महायुद्ध का एक कारण बनीं।

6. जर्मनी ने भी पूर्वी समस्या में दिलचस्पी लेना आरम्भ कर दिया। पूर्व में अपने पांव फैलाने के लिए उसने टर्की से मैत्री कर ली।

पूर्वी यूरोप में राजनीतिक परिवर्तन

इन विशेष परिस्थितियों के कारण बर्लिन सन्धि के बाद पूर्वी समस्या ने अनेक रंग बदले। पूर्व के राजनीतिक मंच में अनेक परिवर्तन हुए। इनमें कुछ महत्वपूर्ण ये थे—

(1) पूर्वी रोमेलिया का बल्गेरिया में मिलना—बर्लिन-सन्धि ने पूर्वी रोमेलिया को बल्गेरिया खास से अलग कर दिया था जबकि वहां भी बल्गेरियन ही रहते थे। अतः दोनों प्रदेशों के निवासी आपस में संयुक्त होने की मांग करने लगे। 1885 में पूर्वी रोमेलिया के लोगों ने रक्तहीन राज्य-क्रांति कर दी। तुर्क अधिकारियों को खदेड़ दिया गया और बल्गेरिया में शामिल होने की घोषणा कर दी गई। बल्गेरिया के राजा ने स्वयं को दोनों प्रदेशों का शासक घोषित कर दिया। इस कार्य से रूस को नाराजगी हुई। इंगलैण्ड ने इस एकीकरण को स्वीकार कर लिया। यूरोप के अन्य राज्यों ने इंगलैण्ड का ही अनुकरण किया।

सर्बिया द्वारा बल्गेरिया पर आक्रमण—दोनों देशों का एकीकरण पड़ोसी राज्य सर्बिया को बहुत ही बुरा लगा। शक्ति-सन्तुलन को खतरा हो जाने से सर्बिया ने बल्गेरिया पर हमला कर दिया। पर उसे लेने के देने पड़ गए। सर्बिया की सेना बल्गेरिया से तो खदेड़ ही दी गई, साथ ही बल्गेरियन फौजें सर्बिया में भी आगे बढ़ने लगी। पर इसी बीच आस्ट्रिया के हस्तक्षेप से बल्गेरिया और सर्बिया में 3 मार्च, 1886 को सन्धि हो गई जिससे यथापूर्व स्थिति कायम रही। इस प्रकार बल्गेरिया और पूर्वी रोमेलिया का सम्मेलन पूर्ण हुआ।

(2) आर्मीनिया की समस्या—टर्की के अत्याचारों से आर्मीनिया में एक नयी समस्या पैदा हुई। आर्मीनिया लोगों की सभ्यता एवं संस्कृति तुर्कों से एकदम भिन्न थी। आर्मीनिया टर्की के अधीन था, पर सुलतान को आर्मीनियन लोगों की वफादारी पर सन्देह था। आर्मीनिया में दिन-प्रतिदिन राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती जा रही थी।

हत्याकाण्डों का क्रम और यूरोप की निष्क्रियता--सुलतान को भय हुआ कि कहीं आर्मीनिया दूसरा बल्गेरिया न हो जाय। इसलिए उसने आर्मीनियनों को कुचल डालने का निश्चय किया। सन् 1894 से 1896 तक लगातार तीन वर्ष तक हत्याकाण्डों और अत्याचारों का क्रम चला। लगभग 26 हजार से भी अधिक कत्ल कर दिए गए। हजारों नर-नारियों और बालकों को जिन्दा जला दिया गया।

इन हत्याकाण्डों से यूरोप भर में सनसनी फैल गई। पर आपसी ईर्ष्या के कारण यूरोपीय राज्य निष्क्रिय रहे। इंगलैंड टर्की के विरुद्ध कुछ करना चाहता था, पर अकेला पड़ जाने के कारण वह कुछ नहीं कर सका। इंगलैंड के प्रधान-मन्त्री लार्ड सेलिसबरी ने कहा कि रूस के विरुद्ध टर्की की सहायता करके इंगलैंड ने 'गलत घोड़े पर बाजी लगाई थी।'

3) यूनान एवं टर्की का युद्ध (1897)—बर्लिन की सन्धि ने यूनान को कुछ प्रदेश दिलाने का आश्वासन दिया था। यूनान के आंसू पोंछने के लिए 1881 में इंगलैंड ने उसे थेसली और एपिरस का कुछ भाग दिलवा दिया।

पर यूनान की महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हुई। वह टर्की साम्राज्य में रहने वाले अपने स्व-जातीय भाइयों को अपने में मिला लेना चाहता था। इन यूनानियों की संख्या 25 लाख से भी अधिक थी। यूनान के दक्षिण में क्रीट नामक टापू के अधिकांश निवासी यूनानी थे। ये लोग यूनान में मिलना चाहते थे। दोनों देशों में मिलन-आन्दोलन ने जोर पकड़ा। सन् 1893 में क्रीट के यूनानियों ने यूनान और क्रीट के सम्मिलन की घोषणा कर दी। क्रीट की प्रार्थना पर यूनान के राजा ने क्रीट की सहायता के लिए अपनी सेना भेज दी। इस पर टर्की और यूनान का युद्ध छिड़ गया। यूनान को पराजित होना पड़ा। उसे क्रीट को अपने में मिलाने का प्रयत्न छोड़ देना पड़ा। साथ ही थेसली का एक भाग भी टर्की को देना पड़ा।

क्रीट का यूनान में मिलन—भू-मध्य सागर में स्थित होने के कारण क्रीट का प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का बन गया। यूरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप से यह निश्चय हुआ कि टर्की के अधीन क्रीट एक स्व-शासित राज्य बना दिया जाय। यूनान के राजा के पुत्र राजकुमार जार्ज को क्रीट का गवर्नर बनाया गया।

पर क्रीट वालों का असन्तोष जारी रहा। सन् 1912 में बाल्कान युद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप टर्की की शक्ति एकदम क्षीण हो गई। तब 1913 में यूरोपीयन राज्यों ने क्रीट को यूनान के साथ मिल जाने दिया।

(4) नवयुवक तुर्क आन्दोलन (The Young Turk Movement)—यूरोप की राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की लहर ने टर्की को अछूता नहीं छोड़ा। सुलतान की निरंकुशता समाप्त करके लोकतन्त्रवाद की स्थापना के लिए टर्की के नवयुवकों ने जबरदस्त आन्दोलन छेड़ा जिसे 'नवयुवक तुर्क आन्दोलन' कहा गया। यह आन्दोलन 1908 में सफल हुआ। एक रक्तहीन क्रान्ति के बाद सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय को संविधान प्रदान करना पड़ा। अब टर्की के देश-भक्त देश के पुनरुत्थान के कार्यों में लग गये।

आस्ट्रिया द्वारा बोसनिया और हरजेगोविना पर अधिकार—टर्की के पुनरुत्थान की सम्भावना से यूरोपीय राज्यों को भय हुआ कि कहीं टर्की उन प्रदेशों पर फिर अपना कब्जा न कर ले जिन पर उसका प्रभाव समाप्त या कम कर दिया गया था। इस आशंका को दूर करने की दिशा में आस्ट्रिया ने सबसे पहला नगाड़ा बजाया। उसने बोसनिया और हरजेगोविना क एकदम अपने राज्य में मिला लिया जबकि बर्लिन सन्धि द्वारा उसे केवल प्रशासनिक अधिकार मिला हुआ था।

बल्गेरिया का स्वतन्त्र होना—बल्गेरिया ने अपने को टर्की से पूर्ण स्वतन्त्र घोषित कर दिया। बल्गेरिया के शासक ने जार की उपाधि ग्रहण की और आवश्यकता पड़ने पर टर्की से लड़ने की भी घोषणा कर दी।

आस्ट्रिया एवं सर्विया में शत्रुता—बोसनिया और हरजेगोविना को आस्ट्रिया द्वारा अपने में मिलाये जाने से सर्वियावाले क्रुद्ध हुए क्योंकि वे उन प्रदेशों को अपने राज्य में मिलाना चाहते थे। आस्ट्रिया ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया था। आस्ट्रिया और सर्विया की यह शत्रुता महायुद्ध का एक गम्भीर कारण बनी।

तुर्कीकरण—नवयुवक तुर्क-आन्दोलन के फलस्वरूप जो उपरोक्त प्रतिक्रियायें हुई, उनसे नवयुवक तुर्क चिढ़ गये। अब उन्होंने तुर्कीकरण (Turkification) की नीति अपनाई। इसका अर्थ था कि टर्की-साम्राज्य में रहने वाली सभी अन्य जातियों को सभ्यता, संस्कृति आदि की दृष्टि से तुर्क बना लिया जाय। इस नीति की सफलता के लिए अधीनस्थ जातियों पर बड़े अत्याचार किये गये। मैसेडोनिया और अल्जीरिया में इन अत्याचारों का विशेष जोर रहा। टर्की के विरुद्ध सब तरफ असन्तोष तीव्र हो गया।

(5) प्रथम बाल्कान युद्ध (1912 एवं 1913)—टर्की के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष से सबसे पहले इटली ने लाभ उठाया। उसने 1911 में टर्की से ट्रिपोली छीन लिया और इस प्रकार टर्की-साम्राज्य के विघटन का क्रम पुनः शुरू हो गया। परिस्थितियों से उत्साहित हो कर बाल्कान राज्यों ने टर्की के विरुद्ध जोरदार युद्ध छेड़कर यह क्रम चालू रखा। टर्की ने घोर दमन की नीति अपनाई। विशेषकर मेसीडोनिया में सैंकड़ों ईसाईयों, बल्गेरियनों और सर्वों को मौत के घाट उतार दिया गया। नतीजा यह हुआ कि मोन्टेनेग्रो, सर्विया, बल्गेरिया और यूनान ने

मेसेडोनिया को स्वतन्त्र करने के लिए संयुक्त रूप से 1912 में टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इन राज्यों ने अपनी अपनी दिशा से टर्की पर आक्रमण कर दिया। छः सप्ताह में ही कुस्तुन्तुनिया को छोड़कर शेष पूरा साम्राज्य टर्की के हाथ से निकल गया।

लण्दन संधि (मई, 1913)—इन परिस्थितियों में यूरोपीय राज्यों के हस्तक्षेप से 30 मई, 1913 के दिन लन्दन की सन्धि हुई, जिसके अनुसार—

(i) कुस्तुन्तुनिया और उसके चारों ओर के कुछ क्षेत्रों पर टर्की का आधिपत्य कायम रख कर यूरोप के अन्य क्षेत्र टर्की की अधीनता से मुक्त कर दिये गये।

(ii) क्रीट को यूनान के साथ मिला दिया गया।

(iii) सर्विया के दक्षिण-पश्चिम में अल्वानिया राज्य का निर्माण किया गया।

(6) द्वितीय बाल्कान युद्ध (1913)—लन्दन की सन्धि स्थायी सिद्ध नहीं हुई। इसके मुख्यतः दो कारण थे—(क) अल्वानिया राज्य का निर्माण किया जाना सर्विया को बहुत बुरा लगा। इस राज्य के निर्माण से एड्रियाटिक सागर तक पहुँचने की उसकी आशा समाप्त हो गई। अल्वानिया के निर्माण में आस्ट्रिया का मुख्य हाथ था, अतः सर्विया और आस्ट्रिया की शत्रुता और भी गहरी हो गई। (ख) लन्दन की सन्धि द्वारा यह तय नहीं हुआ कि टर्की की अधीनता से मुक्त प्रदेशों में से किस विजेता को क्या मिले? परिणामस्वरूप लूट के माल के बंटवारे के प्रश्न पर विजेता बाल्कान राज्य आपस में लड़ पड़े।

मेसेडोनिया का प्रश्न लड़ाई का मुख्य और तात्कालिक कारण बन गया। एड्रियाटिक सागर तक पहुँचने का मार्ग बन्द हो जाने पर इस क्षति की पूर्ति सर्विया ने मेसेडोनिया में अधिक क्षेत्र प्राप्त करके करना चाहा। दूसरी ओर बल्गेरिया भी मेसेडोनिया के अधिक से अधिक भाग पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। यूनान भी अपना कुछ हिस्सा चाहता था, क्योंकि इस प्रदेश में यूनानी लोग भी रहते थे। इस तरह मेसेडोनिया को परस्पर बांट लेने के प्रश्न पर वैर-विरोध बढ़ता गया। बल्गेरिया और सर्विया किसी भी प्रकार एक दूसरे से सहमत नहीं हो सके। आस्ट्रिया इस ताक में था कि बाल्कान-संघ के सदस्यों का संघर्ष इतना गहरा हो जाय कि उनकी एकता का भय न रह सके। अतः वह अपनी कूटनीति से उनमें फूट डालने लगा। अन्त में जून, 1913 में बल्गेरिया ने अपने पुराने दोस्त सर्विया के विरुद्ध एकाएक लड़ाई छेड़ दी। यह द्वितीय बाल्कान युद्ध था।

इस युद्ध में सर्विया अकेला नहीं रहा। यूनान, रूमानिया और मान्टेनेग्रो की सेनायें उसकी मदद के लिये आ गईं। हाल में, हाथ से निकले हुये प्रदेशों में से कुछ के पुनः मिल जाने की आशा से टर्की ने भी बल्गेरिया के विरोधियों का साथ दिया।

बल्गेरिया एक साथ 5 शत्रुओं से नहीं लड़ सका। एक महीने में ही युद्ध का अन्त हो गया। पराजित होकर वह संधि करने पर मजबूर हुआ।

बुखारेस्ट की संधि—10 अगस्त, 1913 को बुखारेस्ट की संधि हुई, जिसके अनुसार—

(i) सर्बिया, यूनान और रूमानिया को काफी प्रदेश मिले।

(ii) टर्की को भी अपने हाथ से एक वर्ष पूर्व निकले राज्य ऐड्रियानोपल समेत एक बड़ा क्षेत्र मिला।

(iii) ये सब प्रदेश इन राज्यों को बल्गेरिया से ही मिले। इतना सब खो देने के बदले में बल्गेरिया को मेसेडोनिया का एक भाग मिला।

दोनों बाल्कान-युद्धों में जन-धन की भारी हानि हुई। लगभग 4 लाख लोग हताहत हो गये।

परिणाम—बाल्कान-युद्धों के फलस्वरूप बाल्कान प्रायद्वीप का नक्शा ही बदल गया। टर्की साम्राज्य यूरोप से एकदम समाप्त हो गया। अब उसका आधिपत्य केवल कुस्तुन्तुनिया, डार्डेनल्स तथा बोस्पोरस पर ही रह गया। बाल्कान-युद्ध से सबसे अधिक लाभ सर्बिया को हुआ। आबादी और क्षेत्रफल की दृष्टि से वह एक बहुत बड़ा देश बन गया। अब वह आस्ट्रिया से निपटने की तैयारी करने लगा।

नवयुवक तुर्कों की क्रांति (1908) से लेकर बुखारेस्ट की संधि (1913) तक की हल-चलों से स्पष्ट है कि बाल्कान-युद्ध उस यूरोपीय महायुद्ध की पृष्ठभूमि बने जो सन् 1914 में प्रारम्भ हुआ।

साम्राज्यवाद एवं औपनिवेशिक विस्तार

19वीं शताब्दी का प्रथम चरण "औपनिवेशिक उदासीनता" का युग था। पर 1870 के वाद इस युग का अन्त हो गया। यूरोपीय राज्यों की औपनिवेशिक नीति ने नया रंग लिया। वाना वदल कर उसने नये साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लिया। वह साम्राज्यवाद पुराने साम्राज्यवाद से भिन्न था। पुराना साम्राज्यवाद "व्यवसायवाद" पर आधारित था किन्तु नये साम्राज्यवाद का ध्येय आर्थिक और राजनीतिक दोनों था।

सन् 1880 के वाद नवीन साम्राज्यवाद ने काफी जोर पकड़ लिया। प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक यूरोपीय महा शक्तियों में संसार के पिछड़े क्षेत्रों पर अधिकार जमाने की भयंकर प्रतिस्पर्द्धा शुरू हुई। यूरोपीय राज्यों ने सम्पूर्ण अफ्रीका को आपस में वांट लिया। एशिया के अनेक प्रदेशों और प्रशांत महासागर के अनेक द्वीपों पर उन्होंने अधिकार कर लिया। ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रहे। पर यूरोप के छोटे-छोटे देश भी अपने लोभ को नहीं रोक सके। कुछ प्रदेशों पर उनका आधिपत्य भी कायम हो गया।

नये साम्राज्यवाद के कारण

आर्थिक कारण

नवीन साम्राज्यवाद के विकास में आर्थिक कारण वड़े सहयोगी हुए—

(1) अतिरिक्त उत्पादन—औद्योगिक क्रांति के कारण 1871 के वाद ही फ्रांस, जर्मनी, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका का तेजी से औद्योगीकरण हुआ। वड़े पैमाने पर उत्पादन होने से इतना माल तैयार होने लगा कि उसकी खपत के लिए वाहर वाजार खोजना आवश्यक हो गया। अतिरिक्त माल को खपाने की समस्या का सर्वोत्तम उपाय यह था कि उपनिवेशों की स्थापना की जाए। वड़े-वड़े उद्योगपतियों ने भी इसीलिए अपनी सरकारों को साम्राज्यवादी नीति अपनाने को उकसाया।

(2) अतिरिक्त पूंजी—साम्राज्यवाद का दूसरा प्रेरक तत्व अतिरिक्त पूंजी था। औद्योगिक क्रान्ति के कारण यूरोपीय राज्यों में अत्यधिक धन एकत्र हो गया।

विशाल पैमाने पर उत्पादन और बिक्री के कारण विभिन्न देशों में बड़े-बड़े पूंजीपतियों का एक वर्ग तैयार हो गया। अत्यधिक मुनाफे के कारण उनके पास विशाल मात्रा में पूंजी इकट्ठी हो गई। अतः समस्या पैदा हुई कि अतिरिक्त पूंजी को कहां लगाया जाए ताकि इससे लाभ होता रहे। स्वदेश में इस पूंजी को लगाने से लाभ की कोई आशा नहीं थी। अतः पूंजीपतियों ने अपनी सरकारों को उपनिवेश स्थापित करने के लिए उकसाया ताकि उनकी अतिरिक्त पूंजी खप सके।

(3) यातायात के साधन—औद्योगिक क्रान्ति के कारण यातायात के साधनों में क्रान्तिकारी उन्नति हुई। इन साधनों के जरिये उपनिवेश-विस्तार की प्रक्रिया काफी आगे बढ़ी। अनेक स्थानों पर यातायात के इन साधनों को लेकर ही साम्राज्यवादी संघर्ष शुरू हो गये। फलस्वरूप अनेक देश यूरोपीय साम्राज्यवाद के शिकार बने।

(4) कच्चे माल की मांग—यूरोप का ज्यों-ज्यों विकास होता गया त्यों-त्यों कच्चे माल की आवश्यकता बढ़ती गई। इन आवश्यकताओं की पूर्ति उपनिवेशों द्वारा ही सम्भव थी। मिल और फैक्ट्रियां खड़ी करने के लिए लोहे की जरूरत थी, इन्जिनों को चलाने के लिए तेल की आवश्यकता थी, कपड़ा तैयार करने के लिए कच्ची रूई और ऊन का महत्व था। ये सब चीजें पिछड़े इलाकों में ही मिल सकती थीं। फिर बाईसिकिल और मोटर के आविष्कार के बाद रबड़ की मांग बढ़ चली जिसकी पूर्ति भी उपनिवेशों द्वारा ही सम्भव थी। इस तरह कच्चे माल की आवश्यकता नवीन साम्राज्यवाद के विकास का महान् कारण सिद्ध हुई।

अन्न की आवश्यकता भी साम्राज्यवाद के विकास का कारण बनी। यूरोप के उद्योग–प्रधान देश उद्योग–धन्धों में ही लगे रहे, जिससे अन्न की उपज वहां कम हो गयी। फलस्वरूप भोजन के लिए बाहर से अनाज मंगाना आवश्यक हो गया।

(5) आत्म-निर्भरता—आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भरता की भावना भी नवीन साम्राज्यवाद के विकास का कारण बनी। यह तर्क दिया गया कि साम्राज्य की स्थापना से साम्राज्यवादी देशों को किसी चीज के लिए दूसरों का मुंह जोहना नहीं पड़ेगा। अतः इस भावना से प्रेरित होकर भी यूरोप के देश साम्राज्य-विस्तार की नीति पर चल पड़े।

राजनीतिक कारण

साम्राज्यवाद के विकास में राजनीतिक कारणों का भी पूरा महत्व रहा। यूरोपीय देश नौसेना के अड्डे बनाने और सामरिक महत्व के स्थानों पर कब्जा करने को लालायित हो गये ताकि उनकी शक्ति और राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ हो जाए। साइप्रस और केप (उत्तमाशा अन्तरीप) पर कब्जा करने के लिए सबसे पहले फ्रांस ने अफ्रीका में प्रवेश किया। फिर इटली वालों ने अपना राष्ट्रीय महत्व बढ़ाने के लिए लीबिया पर कब्जा किया। सामुद्रिक मार्गों की खोज होने से बड़े राष्ट्र उन

स्थानों पर अधिकार जमाने की चिन्ता करने लगे जहां उनके जहाज कोयला पानी ले सकें और विश्राम कर सकें। अतः उन्होंने समुद्री किनारों और मार्ग में पड़ने वाले द्वीपों को जीत कर साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अन्य कारण

आर्थिक व राजनीतिक कारणों के अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक, जनसंख्या वृद्धि आदि अनेक कारण भी साम्राज्यवाद के प्रसार में सहायक बने—

(1) जनसंख्या-वृद्धि—19वीं शताब्दी में यूरोप के प्रत्येक देश में जनसंख्या तेजी से बढ़ी। बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने और भोजन देने की समस्या उग्र होती गई। समाधान के दो ही उपाय थे—लोग विदेशों में जाकर बस जाएं और स्वदेश का माल बेचकर विदेशों से अन्न मंगाया जाए। ये दोनों कारण साम्राज्यवाद के विस्तार में सहायक बने। जिन देशों में यूरोपीय जातियां बस गयी, उन देशों में साम्राज्यवाद की स्थापना आसानी से हो गयी।

(2) राष्ट्रीयता—यूरोपीय देशों की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना साम्राज्यवाद के विस्तार का कारण बनी। राष्ट्रीयता के आवेश में आकर कोई भी देश अपने को किसी से छोटा समझने को तैयार नहीं था। हर देश अपनी भाषा और सभ्यता के प्रचार-प्रसार में आगे बढ़ने को उतावला हो गया। फलस्वरूप विश्व की पिछड़ी हुई जातियों पर अधिकार स्थापित किया जाने लगा। राष्ट्रीयता के पुजारियों ने विश्व के पिछड़े देशों का शोषण किया। वे साम्राज्यवाद के प्रसारक बने।

(3) ईसाई-मिशनरियों का योग—यूरोपीय साम्राज्यवाद के प्रसार में धर्म का बड़ा हाथ रहा। यूरोप के पादरियों का मुख्य ध्येय ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करना था। ये पादरी पिछड़े हुए देशों और पिछड़ी हुई जातियों में जाकर अपने उद्देश्य के लिए कार्य करते थे। इन देशों और जातियों को वे अपने प्रभाव में लाकर यूरोपीय राज्यों को वहां साम्राज्य स्थापित करने की प्रेरणा देते थे। पादरी लोग नये-नये उपनिवेशों की स्थापना से बड़े खुश होते थे क्योंकि ईसाई धर्म को फैलाने का उन्हें एक नया क्षेत्र मिल जाता था। यूरोपीय व्यापारी इन पादरियों की बड़ी सहायता करते थे क्योंकि इनके माध्यम से पिछड़ी जातियों में यूरोपीय माल की खपत होने में सहायता मिलती थी।

अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां ईसाई पादरियों ने प्रत्यक्ष रूप में साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया। डा० लिविंगस्टन ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया कि अफ्रीका पर ब्रिटिश साम्राज्य कायम हो ताकि ईसाई-धर्म का प्रचार हो सके। जर्मन पादरी फ्रैबरी ने साम्राज्यवाद की ओर अधिकाधिक लोगों को झुकाया।

(4) भौगोलिक खोजों की प्रवृत्ति—पुनर्जागरण काल से यूरोप में भौगोलिक खोजों की प्रवृत्ति विकसित हुई। अनेक साहसिक पैदा हुए जिन्होंने नये-नये देशों का

पता लगाकर यूरोप के साम्राज्य-विस्तार में काफी सहायता दी। अनेक उत्साही व्यक्तियों ने अज्ञात प्रदेशों की खोज की और नए भू-खण्डों का पता लगाया। इन भू-खण्डों पर यूरोपीय राज्यों ने अपना प्रभाव जमा लिया।

(4) परोपकारी और मानवतावादी प्रयत्नों की आड़ में साम्राज्य विस्तार— यूरोपीय देशों में अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति अभिमान की भावना ने उन्हें साम्राज्य विस्तार के लिए प्रोत्साहित किया। उनमें यह भावना जोर पकड़ने लगी कि पृथ्वी के विभिन्न भागों में बसे हुए असभ्य, अर्द्ध-नग्न तथा अविकसित लोगों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार करके उनका उद्धार करना और उन्हें ऊंचा उठाना उनका कर्त्तव्य है। उदाहरणार्थ रूडयार्ड किपलिंग ने तर्क दिया कि काले लोगों को सभ्य बनाना गोरे लोगों का महान् दायित्व है। इस उत्तरदायित्व के प्रति अपने देशवासियों और अपनी सरकारों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए यूरोपीय विद्वानों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। इन "परोपकारी और मानवतावादी प्रयत्नों" ने साम्राज्यवाद के विस्तार में बड़ा योग दिया।

उक्त सभी कारणों से 1870 के बाद यूरोप का औपनिवेशिक एवं साम्राज्य-वादी विस्तार तेजी से हुआ। उपनिवेश बसाने और साम्राज्य बढ़ाने की भयंकर प्रतिस्पर्द्धा ने अन्त में विश्व को प्रथम महायुद्ध में की ओर धकेल दिया।

अफ्रीका का बंटवारा

अफ्रीका का विभाजन (1876–1914) नवीन साम्राज्यवाद के युग की एक असाधारण घटना थी। केवल 25–30 वर्षों की छोटी अवधि में ही इस महाद्वीप के विभाजन का काम सम्पन्न हो गया। जर्मनी, इटली, ब्रिटेन, फ्रांस आदि सभी प्रमुख राज्य मैदान में उतर आए। उन्होंने तेजी से अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न भागों पर अपना कब्जा जमा लिया।

अफ्रीका का विभाजन इसलिए भी बड़ा आसान रहा कि अफ्रीका के स्थानीय शासकों या सरदारों ने इसका विरोध नहीं किया। शराब की कुछ बोतलों पर या चमकते हुए कुछ उपहारों पर उन्होंने अपनी जमीन यूरोपीयनों के हांथों में सौंप दीं। वे इतने निःशस्त्र और असहाय रहे कि पैरिस, लन्दन आदि में बैठे हुए साम्राज्यवादियों ने उनके प्रदेशों को नक्शों पर बांट लिया और उन्हें पता तक नहीं चला।

अफ्रीका नवीन साम्राज्यवाद का सबसे बुरा शिकार हुआ। इस भू-खण्ड के आन्तरिक भागों की खोज में पादरियों का बड़ा हाथ रहा। स्टेन्ले, लिविंगस्टोन आदि ने अफ्रीका-यात्रा के वृत्तान्त प्रकाशित किए, जिनमें अफ्रीका की सभ्यता और वहां की अपार सम्पत्ति का उल्लेख था। इन विवरणों से यूरोपीय लोग इस विशाल और अद्भुत भू-खण्ड को पाने के लिए आतुर हो उठे। लगभग सभी यूरोपीय राष्ट्र अफ्रीका में भू-खण्डों पर गिद्ध की तरह टूट पड़े। 1890 के आते-आते वे अफ्रीका को आपस में बांट लेने को कटिबद्ध हो गए।

सन् 1875 से पहले अफ्रीका के केवल एक छोटे से भाग पर यूरोपीय राष्ट्रों का अधिकार था। 1806 में इंगलैंड ने होलैण्ड से केपकोलोनी का प्रदेश छीन लिया था और 1843 में नेटाल पर अधिकार कर लिया था। 1830 में फ्रांस अल्जीयर्स पर अपना अधिकार स्थापित कर चुका था। पुर्तगाल के पास पूर्वी तट पर मोजम्बिक और पश्चिमी तट पर अंगोला के तटीय प्रदेश थे, पर 1870 के बाद तो यूरोपीय राष्ट्रों में अफ्रीका की लूट के लिए होड़ लग गई।

इंगलैण्ड और अफ्रीका

होलैण्ड से मिले केपकोलोनी से अफ्रीका में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी। यह राज्य बढ़ते-बढ़ते दक्षिणी अफ्रीका संघ में परिणित हुआ जिसमें केपकोलोनी के अतिरिक्त ट्रान्सवाल ओरेन्ज फ्रीस्टेट, नेटाल तथा कुछ अन्य छोटी-छोटी रियासतें थीं। ये इंगलैण्ड को अन्तिम बोअर युद्ध के फलस्वरूप मिली थीं। अफ्रीका में इंगलैण्ड का दूसरा महत्वपूर्ण अधिकृत राज्य मिस्र था। आर्थिक और राजनीतिक नियन्त्रण तो सन् 1889 में ही हो गया था और प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद 1915 में इंगलैण्ड ने मिस्र को अपना संरक्षित अधिराज्य घोषित कर दिया।

इंगलैण्ड सूडान को भी अपने अधिकार में लेने के लिए उत्सुक था। मिस्र का अधिकार पहले से सूडान के कुछ भाग पर था। अतः अंग्रेजों ने पहले उस भाग को अपने अधिकार में ले लिया। फिर उन्होंने धीरे-धीरे सूडान में अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। सूडानियों के विद्रोह करने पर लार्ड किचनर ने विशाल सेना लेकर सन् 1898 में पूरे सूडान को अपने अधिकार में ले लिया।

अंग्रेज व्यापारियों ने अफ्रीका महाद्वीप में नयी-नयी कम्पनियां स्थापित की। कम्पनियों ने नये-नये उपनिवेशों की स्थापना की। इस प्रकार मध्य अफ्रीका के बहुत बड़े भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। अंग्रेजों ने नाइजीरिया, सेराल्यून, गोल्डकोस्ट, गैम्बीया तथा अन्य भागों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

पूर्वी अफ्रीका में अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य युगान्डा, केनिया, जंजीबार तथा सोमालीलैण्ड तक फैला लिया। सिसलरोड नामक व्यक्ति ने उत्तरी और दक्षिणी रोडेशिया को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।

इस प्रकार अफ्रीका महाद्वीप में अंग्रेजों का विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया।

फ्रांस और अफ्रीका

फ्रांस सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। मिस्र, अल्जीरिया, ट्यूनिस और मोरक्को पर फ्रेंच-झण्डा लहराये—यह उसका लक्ष्य था। पर अंग्रेजों का सामना करने में विवश होकर फ्रांस को मिस्र से हटना पड़ा। 1867 में फ्रांस ने अफ्रीका के पूर्वी तट पर स्थित सोमालीलैण्ड के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। 1869 में एक फ्रेन्च कम्पनी ने स्वेज नहर का निर्माण

किया और उ हिस्से खरीद लिये। 1881, 1898, 1905, एवं 1911 में फ्रांस का क्रमश: ट्यूनिस, फशोदा, मोरक्को एवं पश्चिमी अरब राज्य पर अधिकार गया। अंग्रेजों के विरोध के कारण फ्रांस को फशादा से हट जाना पड़ा। 1890 और 1896 के बीच फ्रांस तथा इंगलैण्ड में दो बार समझौते हुए जिनके अनुसार मेडागास्कर, मध्य सूडान और कांगो घाटी के बहुत बड़े भाग पर फ्रांस का अधिकार स्थापित हो गया।

बेल्जियम और अफ्रीका

बेल्जियम का राजा लियोपोल्ड द्वितीय ने अफ्रीका में अनुसंधानों से लाभ उठाने के लिये 1873 में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करवाई। उसने स्टेन्ले को इस संस्था में ले लिया जो एक अंग्रेज था और जिसकी इच्छा यही रही थी कि इंगलैण्ड उसके अनुसंधानों से लाभ उठाये। इंगलैण्ड के उदासीन रहने पर इस महान् खोजी ने लियोपोल्ड ? बातचीत की। तत्पश्चात् वह कुछ लोगों को साथ लेकर अफ्रीका लौट गया। उसने कांगो प्रदेश में वहां के सरदारों से संधियां की जिसके फलस्वरूप समस्त कांगो प्रदेश पर लियोपोल्ड का अधिकार हो गया। अब अन्य यूर राज्य लियोपोल्ड से ईर्षा करने लगे। ब्रिटेन और पुर्तगाल ने विशेष तौर पर विरोध किया। पुर्तगाल ने कांगो के विशाल प्रदेश पर दावा करके अपना कब्जा जमा लिया। यूरोपीय राज्यों के इस ओर आकृष्ट होने पर स्थिति बहुत जटिल हो गयी। समस्या सुलझाने के लिय 1884-85 में बर्लिन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें कांगो फ्री स्टेट नामक राजय की स्थापना हुई। कांगो का प्रदेश नाम के लिय तो अन्तर्राष्ट्रीय राज्य बन गया, पर 1908 तक वास्तव में वह लियोपोल्ड का व्यक्तिगत राज्य बना रहा। बाद में अन्य देशों के विरोध के कारण उसने अपना राजय बेल्जियम सरकार को सौंप दिया। इस प्रकार कांगो फ्री स्टेट का प्रदेश बेल्जियम का एक उपनिवेश बन गया।

जर्मनी और अफ्रीका

सन् 1890 के बाद जर्मनी भी उपनिवेश-स्थापना की होड़ में शामिल हो गया। जर्मन-सम्राट ने अनेक जर्मनों को अफ्रीका में वहां के सरदारों से संधियां करने के लिये भेजा। कार्लपीटर के श्रम से पूर्वी अफ्रीका के बड़े भाग पर जर्मनी का आधिपत्य स्थापित हो गया। जर्मनी ने प्रशान्त महासागर के सामोआ द्वीप और प्रिंस बिस्मार्क द्वीप समूह पर अधिकार कर लिया !

इटली और अफ्रीका

इटली पूरे उत्तरी अफ्रीका पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता था। पर उसके मैदान में आने से पहले यूरोप के अन्य राष्ट्रों ने उत्तरी अफ्रीका के अनेक भागों पर अधिकार जमा लिया। इससे इटली की परेशानी बढ़ गई, किन्तु उसने हिम्मत से काम लिया। सन् 1870 में उसने इरीट्रिया पर और 1889 में सोमालीलैण्ड के एक भाग पर अधिकार कर लिया। एबीसीनिया पर अधिकार करने का उसका

प्रयत्न असफल रहा। सन् 1912 की संधि के अनुसार ट्रिपोली, लीबिया और साइरेनेका के प्रदेश भी इटली के हाथों में आ गये।

निष्कर्ष रूप में अफ्रीका की लूट में फ्रांस और ब्रिटेन को सबसे अधिक लाभ हुआ। यह विशेष बात रही कि अफ्रीका महादेश के बंटवारे को लेकर राष्ट्रों में युद्ध कभी नहीं हुआ। समय-समय पर तनातनी बढ़ी, लेकिन समझौते द्वारा बातें तय हो गयीं।

बोअर युद्ध
(Boer War)

अफ्रीका महाद्वीप में ब्रिटिश साम्राज्य विस्तार की गाथा में बोअर युद्धों (Boer wars) का विशेष महत्व है।

हम बता चुके हैं कि 1814 में ब्रिटेन को हौलैण्ड से केपकोलोनी मिल चुका था। उस समय वहां डच बड़ी संख्या में रहते थे। ये डच किसान थे जिन्हें बोअर (Boers) कहा जाता था। बोअर लोग अपनी सभ्यता, परम्परा, भाषा, रीति-रिवाज आदि में बड़े कट्टर थे। किसी भी सूरत में वे इन्हें छोड़ने के लिये तैयार नहीं थे।

बोअर समस्या—केपकोलोनी पर अधिकार जमाने के बाद अंग्रेजों ने बोअरों पर अपनी सभ्यता-संस्कृति लादने की कोशिश की। ब्रिटिश सरकार के व्यवहार से तंग आकर उन्होंने केपकोलोनी छोड़ देने का निश्चय किया। 1836 में वे अपना सारा माल असबाब लेकर उत्तर की ओर चल पड़े। उन्होंने घने जंगलों को साफ करके दो नये उपनिवेश बसाये जिनका नाम नेटाल तथा ओरेन्ज फ्री स्टेट रखा गया।

अंग्रेज बोअरों के पीछे पड़े रहे। 1843 में अंग्रेजों ने नेटाल पर कब्जा कर लिया और इसी वर्ष ओरेन्ज फ्री स्टेट भी उनके कब्जे में आ गया।

बोअरों ने इन उपनिवेशों को भी त्याग दिया। वे ट्रांसवाल नामक एक नया उपनिवेश कायम करके बस गये। 1852 में अंग्रेजों और बोअरों में एक संधि हो गई। दो वर्ष बाद ओरेंज फ्री स्टेट बोअरों को वापिस मिल गया। इस तरह दक्षिणी अफ्रीका में चार उपनिवेश रह गये—दो अंग्रेजों के अधीन और दो डचों (बोअरों) के अधीन।

परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चली। 1877 में घोर साम्राज्यवादी डिजरेली ने बोअरों की स्वतन्त्रता को कुचल देने का ही निश्चय किया। अंग्रेजों ने ट्रांसवाल पर हमला कर दिया। बोअरों ने डटकर मुकाबला किया। यद्यपि बोअर पराजित हो गये, लेकिन अंग्रेजों की अफ्रीकन नीति की सर्वत्र कटु आलोचना हुई। जब ग्लेडस्टन के नेतृत्व में ब्रिटेन में उदार दलीय मन्त्रिमण्डल बना तो 1884 में अंग्रेजों और बोअरों के बीच संधि हो गयी। ट्रांसवाल की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी गई।

इस संधि के कुछ ही दिनों वाद पता चला कि ट्रांसवाल में सोने की सबसे वड़ी खानें हैं। अतः सोने के लालच में अंग्रेज विशाल संख्या में ट्रांसवाल में वस गये। वे मांग करने लगे कि उन्हें वोअर सरकार के निर्माण में वोट देने का अधिकार मिले। वोअरों को भय था कि इस मांग को स्वीकार कर लेने के विपरीत परिणाम निकलेंगे। अतः उन्होंने ऐसे कानून वनाये जिनसे अंग्रेजों को नागरिकता के लिए वहां का अधिकार प्राप्त करना असम्भव हो गया। अंग्रेजों ने भी इस नीति के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया।

इस समय दक्षिणी ब्रिटिश अफ्रीका का प्रधानमन्त्री सैसिल रोड्स था। वह वोअरों की शक्ति नष्ट करने की ताक में था। ब्रिटिश सरकार उसे भीतर ही भीतर सहायता दे रही थी। दूसरी ओर ट्रांसवाल का राष्ट्रपति पाल क्रूगर अंग्रेजों की मांग मानने को तैयार नहीं था। इस वातावरण में दोनों तरफ से युद्ध की तैयारियां होने लगीं। ट्रांसवाल की सीमाओं पर ब्रिटिश सेना जमा हो गई। 1899 में तीसरी वार वोअर युद्ध आरम्भ हो गया जो 1902 तक चलता रहा। वोअरों ने अद्भुत वीरता से युद्ध किया, किन्तु अन्त में उन्हें पराजित होना पड़ा। वोअरों को अंग्रेजों की शर्तें माननी पड़ी। दोनों वोअर-राज्यों को ब्रिटिश उपनिवेश वना लिया गया।

परिणाम—वोअर युद्धों के महत्वपूर्ण परिणाम निकले। दक्षिण अफ्रीका में केप-कोलोनी से लेकर टंगेनिका झील तक ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हो गया। वोअर-युद्धों में जर्मनी ने वोअरों के पक्ष में सहानुभूति प्रदर्शित की। फलस्वरूप इंगलैण्ड और जर्मनी के सम्बन्ध विगड़ गये। इतना ही नहीं, वोअर-युद्धों के समय ब्रिटेन को अपनी 'पृथकता' की नीति का कटु स्वाद चखना पड़ा। यूरोप के सभी राज्यों ने वोअरों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। ब्रिटेन का किसी ने साथ नहीं दिया। फलस्वरूप उसे पृथकतावादी नीति का परित्याग करके 1902 में जापान के साथ और 1904 में फ्रांस के साथ समझौता करना पड़ा। आगे चलकर ब्रिटेन को वोअरों के प्रति उदार नीति ग्रहण करनी पड़ी।

सुदूरपूर्व एवं चीन में औपनिवेशिक विस्तार

सुदूरपूर्व की औपनिवेशिक होड़ में यूरोपीयन देशों के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस और जापान ने भी भाग लिया। सन् 1900 तक मुख्यतया दक्षिण प्रशान्त सागर में उपनिवेश वन गए। उत्तरी वर्मा में और फिर उत्तरी वोर्नियो पर अंग्रेजों ने आधिपत्य जमाया। हिन्द-चीन में फ्रांस ने अपना साम्राज्य कायम किया। जर्मनी ने न्यूगिनी में, अमेरिका ने फिलिपाइन में और जापानियों ने फारमोसा को अपना उपनिवेश वनाया।

इसके वाद उत्तर-प्रशांत सागर और चीन पर ध्यान केन्द्रित किया गया, जिसके कारण रूसियों और जापानियों के वीच मन्चूरिया तथा कोरिया पर कब्जा

करने के लिए संघर्ष होने लगे। एशिया में जापान और चीन ही दो ऐसे देश बच रहे थे, जहां यूरोपीय साम्राज्य की स्थापना हो सकती थी। किन्तु जापान तो स्वयं ही एक साम्राज्यवादी देश बन बैठा, अतः चीन ही ऐसा अकेला देश रहा जो साम्राज्यवादी लूट-खसोट का अड्डा बना।

चीन पर साम्राज्यवादी देशों के चारों ओर से हमले होने लगे। ब्रिटेन ने 1841 में चीन पर चढ़ाई की और 1842 की नानकिंग संधि के अनुसार चीन को हांगकांग टापू से हाथ धोना पड़ा। उसे पांच बंदरगाह भी खोलने पड़े जहां अंग्रेज रह सकें और वे बेरोक-टोक व्यापार कर सकें। फिर 1858 में एक फ्रांसीसी पादरी की हत्या के बहाने फ्रांस और ब्रिटेन ने चीन पर चढ़ाई की। 1860 की तीन्तिसन संधि के फलस्वरूप चीन को 6 और बन्दरगाह खोलने पड़े। उसे अफीम के व्यापार की आज्ञा देनी पड़ी और ईसाई धर्म प्रचारकों की सुरक्षा का जिम्मा लेना पड़ा। अब चीन विदेशों के लिए पूरी तरह खुल गया। चीन के द्वार सभी पश्चिमी देशों के व्यापार के लिए खुले रखने के लिए चीन पर तरह-तरह के दबाव डाले जाते रहे। अफ्रीका की तरह चीन को भी पश्चिमी शक्तियों ने अपने प्रभाव-क्षेत्र में बांट लिया। इस 'खुला द्वार नीति' (Open Door Policy) को मनवाने में संयुक्त राज्य अमेरिका ने सबसे ज्यादा कोशिश की।

इस प्रकार ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी, होलैंड, बेल्जियम आदि देशों ने चीन में व्यापारिक और राजनीतिक सुविधायें प्राप्त कीं। चीन को विभिन्न संधियों द्वारा तरह-तरह से दबाया गया। इन सुविधाओं को प्राप्त करने में साम्राज्यवादी राज्यों ने किन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की परवाह नहीं की। चीन के बन्दरगाहों पर उन्होंने अधिकार रखा, चीन में यूरोपीय बस्तियां बसाई, अपनी निजी सेना रखी और यूरोपियनों को चीनी कानूनों से मुक्त रखा। यूरोपीयन राज्यों द्वारा चीन का राजनीतिक और आर्थिक शोषण होने लगा। B

यूरोप के छोटे-छोटे राज्य
(1870–1914)

यूरोप के प्रमुख राष्ट्रों का वर्णन हम कर चुके हैं। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाली राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल से यूरोप के छोटे छोटे राज्य भी काफी प्रभावित हुये। प्रस्तुत अध्याय में कुछ प्रमुख छोटे राज्यों को लेंगे।

आस्ट्रिया

मध्य यूरोप में जर्मनी का संयुक्त राज्य सबसे बड़ा था। इसके बाद आस्ट्रिया-हंगरी का संयुक्त राज्य था। मैटरनिख के पतन के बाद सम्राट फ्रांसिस जोसेफ 1848 से 1916 तक आस्ट्रिया-हंगरी का शासन सम्हाले रहा। 1867 के एक राजनीतिक समझौते के आधार पर आस्ट्रिया और हंगरी दो भागों में विभाजित कर दिये गये। हंगरी का राज्य अलग किया गया। दोनों राज्यों की अलग-अलग संसद् बनी। उनके संविधान भी अलग-अलग बने, लेकिन दोनों ने सम्राट फ्रांसिस जोसेफ को अपना राजा माना। सैनिक और वैदेशिक कार्यों को देखने के लिए भी संयुक्त मंत्रि-मण्डल नियुक्त किया गया।

आस्ट्रिया का साम्राज्य हंगरी तथा आस्ट्रिया नामक दो राज्यों में विभक्त हो गया, लेकिन वहां शांति स्थापित न हो सकी। इन दोनों ही देशों में अनेक छोटी-छोटी जातियां थीं जो हंगरी की मग्यार जाति की तरह स्वतन्त्र होना चाहती थीं। सन् 1909 में आस्ट्रिया को बोसनिया और हर्जेगोविना मिल जाने के बाद इन छोटी-छोटी जातियों की संख्या और भी बढ़ गई।

आस्ट्रिया के अधीन चैक, स्लोवाक, पोल, रूथेनिया, हर्व आदि मुख्य जातियां थीं। हंगरी के अधीन रूमानिया और सर्व जातियां थीं। स्लोवाक आन्दोलन आस्ट्रिया और हंगरी के लिये विशेष रूप से महान् संकट बना। रूस ने इस आन्दोलन को पूरा समर्थन दिया।

आस्ट्रिया ने साम्राज्य में फैले असंतोष को दूर करने के लिये धीरे-धीरे शासन-सुधार की नीति अपनाई। पहले मत देने का अधिकार बहुत कम लोगों को प्राप्त था किन्तु 1907 में सभी वयस्क लोगों को मताधिकार दे दिया गया।

सरकार ने यह नीति स्वीकार करली कि विभिन्न वर्गों के लोग अपने हितों की रक्षा के लिये संघर्ष कर सकते हैं और सरकार की सहायता पर आश्रित रह सकते हैं। लेकिन आस्ट्रिया का जातिवाद कमजोर न पड़ सका। भाषा का मसला आपस में द्वेष का बहुत बड़ा कारण बन गया। आस्ट्रिया की सरकार ने जर्मन भाषा को राष्ट्र भाषा घोषित कर दिया जबकि अन्य भाषाओं की उपेक्षा की।

आस्ट्रिया में श्रमिकों के कष्टों को दूर करने के लिये भी सरकार ने विभिन्न नियम बनाये। श्रमिकों को श्रमिक संघ की स्थापना का अधिकार भी दे दिया गया।

आस्ट्रिया ने अपने राज्य में सुधार के लिये बहुत से कदम उठाये लेकिन जातिवाद उसके लिए भयंकर सिर दर्द बना रहा। प्रथम महायुद्ध तक इस समस्या का कोई भी निदान नहीं निकल सका।

हंगरी

1867 में हंगरी के पृथक राज्य की स्थापना हुई, यद्यपि आस्ट्रिया और हंगरी दोनों देशों का राजा एक ही रहा। हंगरी में भी रूमानिया और सर्व जातियां अपनी स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलन करती रहीं। हंगरी की सरकार इन आन्दोलनों को दबाती रही। आस्ट्रिया और हंगरी दोनों ही अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये उत्सुक थे। अतः ये बाल्कान प्रायद्वीप में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये प्रयत्न करने लगे। यहां उन्हें रूस के साथ टक्कर लेनी थी। चूंकि जर्मनी रूस की शक्ति से भयभीत हो रहा था, अतः उसने आस्ट्रिया-हंगरी गुट को अपनी तरफ मिला लिया।

सन् 1881 में आस्ट्रिया-हंगरी ने सर्बिया से संधि की। यह तय हुआ कि सर्बिया इन दोनों राज्यों की अनुमति के बिना किसी भी राज्य से संधि नहीं करेगा। इस तरह सर्बिया पर आस्ट्रिया का प्रभाव हो गया। इसके पहले सन् 1887 के बर्लिन सम्मेलन में आस्ट्रिया-हंगरी को बोसनिया और हर्जेगोविना नामक प्रान्तों पर प्रशासनिक अधिकार दिया जा चुका था। लेकिन आस्ट्रिया ने आगे चल कर इन प्रान्तों का अपने राज्य में विलय कर दिया। इससे दोनों प्रांतों की जनता में आस्ट्रिया-हंगरी के खिलाफ बड़ा असंतोष फैल गया। जब 1914 में आस्ट्रिया-हंगरी के राजकुमार सपत्नीक बोसनिया की राजधानी में यात्रा पर पहुँचे तो क्रान्तिकारियों ने उनका वध कर दिया। यह घटना प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ का एक महान् कारण बनी।

प्रथम महायुद्ध के बाद हंगरी पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया।

स्पेन

19वीं शताब्दी में अन्य देशों की देखा-देखी ही स्पेन भी अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने लगा। सन् 1870 में स्पेन के सिंहासन पर अमादेव बैठा। पर विरोधियों से विवश होकर सन् 1873 में उसने त्याग-पत्र दे दिया। 12 फरवरी, 1873 को स्पेन में प्रजातंत्र की स्थापना हुई। केसटेलर राष्ट्रपति चुना गया और

संविधान बनाने की तैयारी होने लगी। पर यूरोप के किसी भी राष्ट्र ने स्पेनिश प्रजातंत्र को मान्यता नहीं दी। लगभग सभी देशों ने स्पेन से अपने राजदूत वापिस बुला लिये। अतः राष्ट्रपति केसटेलर इन परिस्थितियों में अधिक समय तक टिक न सका। उसके बाद मार्शल सरानों एक सैनिक विद्रोह के बाद राष्ट्रपति बना। लेकिन वह भी सुचारू रूप से काम न कर सका। प्रजातंत्र पूरी तरह असफल हो गया। स्पेन में पुनः राजतंत्र स्थापित कर दिया गया। एलफान्सो स्पेन का राजा बना। उसने 1875 से 1885 तक शासन किया। एक नये शासन-संविधान की रचना की गई जिसके अनुसार यह स्वीकार किया गया कि स्पेन का राजा इंगलैण्ड के राजा की भांति शासन करेगा और मंत्रिमण्डल विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगा।

सन् 1885 में एलफान्सो की मृत्यु हो गई। उसका पुत्र एलफान्सो 13वां अपने पिता की मृत्यु के 6 माह बाद पैदा हुआ। उसके बचपन में उसकी मा मेरियाक्रिस्तना उसकी संरक्षिका की हैसियत से शासन करती रही। इस अवधि में कई प्रमुख घटनायें घटीं। अमेरिका में कुछ प्रदेश बहुत पहले से ही स्पेन के अधीन थे जिनमें सबसे प्रसिद्ध क्यूबा द्वीप था। सन् 1895 में क्यूबा-वासियों ने विद्रोह कर दिया। जब वहां की व्यवस्था ठीक करने के लिये स्पेन के ब्लाको को भेजा तो अमेरिका ने विरोध किया। दोनों देशों में युद्ध छिड़ गया। स्पेन की हार हुई। संधि के अनुसार—(1) क्यूबा को स्वतन्त्रता दी गई, (2) गुआम तथा फिलिपिन द्वीप अमेरिका को मिले, (3) फिलिपिन द्वीप के बदले स्पेन को अमेरिका ने 6 करोड़ रुपये दिये, (4) स्पेन ने प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों को जर्मनी को बेच दिया जिनके बदले में उसे काफी धन मिला।

सन् 1902 में 16 वर्ष की आयु में एल्फान्सो 13वां सिंहासन पर बैठा। वह एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। 1905 में एक कानून द्वारा उसने सबके लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी। स्पेन में उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देकर आर्थिक स्थिति सुधारने के प्रयत्न किये गये।

प्रथम महायुद्ध में स्पेन ने किसी प्रकार का भाग नहीं लिया। यह देश अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में लगा रहा।

पुर्तगाल

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद पुर्तगाल में भी निरंकुशता का विरोध होने लगा। अतः वहां वैधानिक शासन सत्ता की स्थापना हो गई। सन् 1889 में कार्लो प्रथम पुर्तगाल का वैधानिक राजा बना। 1908 तक उसने शासन किया। उसके समय में पुर्तगाल में अनेक सुधार किये गये। पादरी राज्य-कार्यों में हस्तक्षेप करने लगे, अतः उनके प्रभाव को रोका गया। विभिन्न राजनीतिक दल राजसत्ता को उलटने का प्रयत्न करने लगे अतः उनके प्रयासों को कुचला गया। शिक्षा सुधार के प्रयत्न किये गये और जनता पर करों का भार हल्का कर दिया गया।

अपने विरोधियों को दबाने के लिये कार्लो को विवश होकर दमन-चक्र चलाना पड़ा। किन्तु 1908 में षडयंत्रकारियों ने कार्लो और उसके पुत्र का वध कर डाला। उसका दूसरा लड़का सिंहासन पर बैठा, पर 1910 में पुर्तगाल में क्रान्ति हो गई। राजसत्ता का अंत कर दिया गया और प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना हुई। देश के लिये नया संविधान बना। चर्च और राज्य अलग-अलग कर दिये गये। मंत्रिमंडल विधान सभा के प्रति उत्तरदायी रहा। पुर्तगाल की नीति जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस का साथ देने की रही।

स्विट्जरलैण्ड

यूरोप की राजनीति में स्विट्जरलैण्ड का कोई महत्पूर्ण भाग नहीं रहा। इस देश ने न कभी किसी पर आक्रमण किया और न ही किसी अन्य देश ने इस पर हमला किया। यूरोप के देशों ने सम्मिलित रूप से यह स्वीकार कर लिया कि वे स्विट्जरलैण्ड की तटस्थता बनाये रखेंगे। यह स्थिति आज तक चली आ रही है।

बेल्जियम

पहले बेल्जियम और होलैण्ड दोनों एक थे। पर 1831 में बेल्जियम अलग हो गया। उसके लिये अलग संविधान बना जो आज भी प्रचलित है। सन् 1893 में बेल्जियम में 25 वर्ष की आयु के व्यक्ति को मताधिकार दिया गया। शिक्षा के क्षेत्र में सुधार किया गया। देश का औद्योगिक विकास किया गया। औद्योगिक प्रगति होने से श्रमिक समस्यायें पैदा हुईं। फलस्वरूप श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये पेंशन, बीमा आदि की व्यवस्था की गई।

प्रथम महायुद्ध में यह राज्य जर्मन आक्रमण का शिकार हो गया। जर्मनी ने फ्रांस पर हमले के लिये बेल्जियम से मांग की कि वह जर्मन सेनाओं को बेल्जियम होकर जाने दे। बेल्जियम द्वारा यह मांग ठुकरा देने पर जर्मनी ने उस पर हमला कर दिया। बेल्जियम वाले बड़ी शूर-वीरता से लड़े, पर जर्मनी की विशाल शक्ति ने बेल्जियम को रौंद डाला। प्रथम महायुद्ध में जर्मनी की हार के बाद बेल्जियम पुनः स्वतन्त्र हुआ जिससे उसका भाग्य जगा।

होलैण्ड

1830 के पहले होलैण्ड और बेल्जियम संयुक्त रहे, पर 1831 में, जैसा कि कहा जा चुका है, बेल्जियम स्वतन्त्र हो गया। होलैण्ड में वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना की गई। पहले मताधिकार बहुत सीमित रहा, पर 1918 में सभी वयस्क पुरुषों को मताधिकार मिल गया। विलियम तृतीय की मृत्यु के बाद उसकी लड़की विलहेलमिना 1890 से 1942 तक होलैण्ड की राजगद्दी पर बैठी। रूस ने होलैण्ड में अनिवार्य सैनिक सेवा की परम्परा चलाई। प्रथम महायुद्ध में हॉलैण्ड उदासीन रहा।

डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन

19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में डेनमार्क का राज्य यूरोप में बड़ा विशाल

था। पर 1815 में वियना कांग्रेस ने नार्वे को डेनमार्क से अलग कर दिया। इस विभाजन से डेनमार्क की शक्ति क्षीण हो गई। 1848 की यूरोपियन क्रान्तियों से डेनमार्क अछूता न रहा। वहां सांवैधानिक शासन-व्यवस्था लागू की गई। डेनमार्क में धीरे-धीरे वैधानिक राजसत्ता की स्थापना हो गई। वैदेशिक क्षेत्र में डेनमार्क और जर्मनी में विरोध चला। 1864 में जर्मनी ने डेनमार्क के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और स्लेशविग और होलेस्टाइन नामक प्रदेश जीत लिये। सन् 1920 में स्लेशविग का कुछ भाग डेनमार्क को पुन: दे दिया गया। बहुत से द्वीप, जैसे ग्रीनलैण्ड, हाइलेंड, वैस्टइन्डीज आदि भी डेनमार्क के साम्राज्य में थे। सन् 1917 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने वैस्टइन्डीज के बहुत से द्वीप डेनमार्क से खरीद लिये। प्रथम महायुद्ध में डेनमार्क को बहुत से प्रदेश खोने पड़े। जर्मनी की हार के बाद उसके खोये हुए प्रदेश उसे पुन: वापिस कर दिये गये।

स्वीडन पहले यूरोप का बहुत बड़ा राज्य था किन्तु नैपोलियन ने इसे कुचल दिया। 1815 में वियना कांग्रेस ने नार्वे का प्रदेश डेनमार्क से लेकर स्वीडन को दे दिया। पर स्वीडन नार्वे को अधिक समय तक अपने अधीन न रख सका। वहां के देशभक्त विद्रोह करते रहे। अन्त में नार्वे के लिये अलग संसद् की व्यवस्था की गई और वहां का मंत्रिमण्डल भी स्वीडन से अलग रहा, हालांकि दोनों देशों का शासक स्वीडन के राजा को ही स्वीकार किया गया। फिर भी झगड़ा चलता रहा। 1905 में नार्वे की संसद् ने यह प्रस्ताव पास किया कि नार्वे स्वीडन का संघ, जो स्वीडन के राजा के अधीन है, भंग किया जाता है। अब स्वीडन के समक्ष बड़ा संकट उपस्थित हो गया। अन्त में, उसने नार्वे से समझौता कर लिया जिसके अनुसार—(1) नार्वे को स्वतंत्र राज्य मान लिया गया, (2) यह तय हुआ कि दोनों देश सीमाओं पर किसी प्रकार की किलेबन्दी नहीं करेंगे, एवम् (3) किसी भी झगड़े के होने की सूरत में दोनों परस्पर सम्मेलन द्वारा झगड़ा तय कर लेंगे।

नार्वे स्वतंत्र हो गया, पर वहां का शासन-विधान निश्चित होने के बारे में खींचातान चली। अन्त में नार्वे में वैधानिक राजतन्त्र की स्थापना की गई। धीरे-धीरे नार्वे के अलग हो जाने से स्वीडन का राज्य बहुत ही छोटा हो गया। वहां भी प्रजातांत्रिक भावना का विकास हुआ। सन् 1909 में वयस्क व्यक्तियों को मताधिकार मिल गया।

शस्त्रीकरण की होड़

सैनिक शक्ति बढ़ाने की होड़

सन् 1871 से 1914 के काल को विश्व राजनीति के इतिहास में "शस्त्र क्रान्ति" तथा "अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता" का युग कहा जाता है। राष्ट्र राष्ट्रों के बीच हथियार बन्दी अथवा शस्त्रीकरण की होड़ इस युग की प्रधान विशेषता थी। सभी देशों में उग्र-राष्ट्रीयता और प्रचण्ड साम्राज्यवाद की लहरें जोर मार रही थीं। राष्ट्रीय संतोष का एकमात्र उपाय युद्ध था। युद्ध के द्वारा ही जर्मनी और इटली अपना साम्राज्य स्थापित कर सकते थे। युद्ध के द्वारा ही फ्रांस अपने राष्ट्रीय अपमान का बदला ले सकता था। युद्ध के बल पर ही इटली अपने प्रभाव का विस्तार कर सकता था। संक्षेप में, युद्ध उस युग की मांग थी। अतः 1871 के बाद यूरोपीय देशों में अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने और अपनी सेना को आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र से लैस करने की होड मच गई। हथियारबन्दी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन का एक नशा हो गया।

अनिवार्य सैनिक सेवा की प्रथा राज्य क्रांति के समय सबसे पहले फ्रांस ने आरम्भ की। उसके बाद प्रशा ने इसे अपनाया। धीरे-धीरे अन्य यूरोप के देशों ने भी इसे अपना लिया। फलस्वरूप सेनाओं का खर्च तेजी से बढ़ता गया। अनेक यूरोपीय राज्य अपनी वार्षिक आय का लगभग 85 प्रतिशत भाग युद्ध की तैयारी पर खर्च करने लगे। 1885 में फ्रांस की सैनिक संख्या लगभग 5 लाख और जर्मनी की 4,27,000 थी, जबकि प्रथम महायुद्ध के पूर्व 1913 में जर्मनी ने अपनी सैनिक संख्या 8 लाख से भी अधिक कर दी, और फ्रांस भी इसमें पीछे नहीं रहा।

एंग्लो–जर्मन नौ-सेना सैनिक प्रतियोगिता

इस युद्ध में हथियारबन्दी की होड में सबसे गम्भीर समस्या इंगलैन्ड और जर्मनी के बीच नौ-सेना के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा थी। नौ-सेना ब्रिटेन के राष्ट्रीय साम्राज्यवादी जीवन का प्राण थी। जर्मनी का बिस्मार्क इस बात को अच्छी तरह जानता था। वह जानता था कि यदि जर्मनी ने अपनी नौ-सैनिक शक्ति में वृद्धि की

तो ब्रिटेन से शत्रुता मोल लेनी पड़ेगी। अतः ब्रिटेन से टकराने की स्थिति वह हमेशा टालता रहा।

लेकिन विस्मार्क के बाद जर्मनी के सम्राट केशर विलियम द्वितीय ने अपनी महत्वाकांक्षा को गलत रास्ते पर चलाना शुरू किया। जर्मन संसद् ने 1898 में प्रथम नौ-सेना विवेयक पास किया। इस विवेयक का उद्देश्य 1904 तक जर्मनी की नौ-सैनिक शक्ति को इतना शक्तिशाली बना देना था कि उसकी कोई राज्य उपेक्षा न कर सके। जर्मनी के नौ-सेना सम्बन्धी कार्यक्रम का भार एडमिरल टिरपिज पर डाला गया था। 1898 के अधिनियम के बाद सन् 1900 में द्वितीय नौ-सेना विवेयक जर्मन संसद् द्वारा पारित किया गया। इसका उद्देश्य जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति को दुगुना कर देना था। टिरपिज जर्मनी के सामुद्रिक बेड़े को इतना शक्तिशाली बनाना चाहता था कि उसके विरुद्ध सबसे अधिक शक्तिशाली नौ-सैनिक प्रतिद्वन्द्वि की स्थिति भी डांवाडोल हो जाए।

जर्मनी की नौ-सेना वृद्धि की नीति से ब्रिटेन में गम्भीर प्रतिक्रिया हुई। 1904 के आते-आते जर्मनी की सामुद्रिक शक्ति ब्रिटिश चिन्ता का विषय बन गई। जर्मन की सामुद्रिक और सैनिक श्रेष्ठता ब्रिटेन और फ्रांस के लिए खटकने की बात थी। अतः वे भी जर्मनी के विरुद्ध अपनी योजनायें तैयार करने लगे। वे सामुद्रिक शक्ति-संतुलन को कुछ इस तरह ठीक करना चाहते थे कि यूरोप में जर्मनी की श्रेष्ठता समाप्त हो जाए।

ब्रिटेन ने प्रारम्भ में जर्मनी के समक्ष मित्रता और सुलह के प्रस्ताव रखे। लेकिन जर्मनी ने इन प्रस्तावों को ठुकरा दिया। तब ब्रिटेन ने जापान और फ्रांस के साथ सन्धि करली और जर्मनी की नाविक प्रगति को रोकने के लिए कमर कस ली।

1903 में यह निश्चय किया गया कि रौजीथ में एक प्रथम श्रेणी का नौ-सैनिक दुर्ग बनाया जाए। इसके साथ ही प्रतिवर्ष चार लड़ाकू जहाज बनाने का भी निर्णय लिया गया। ब्रिटिश नौ-सेना को पुनर्गठित किया गया। अक्टूबर, 1905 में ड्रेडनाट नामक एक नये किस्म का जहाज बनाने का काम शुरू हुआ। यह दुनियां का सबसे बड़ा और सबसे अधिक शस्त्रों से सुसज्जित लड़ाकू जहाज था।

जर्मनी का टिरपिज भी पीछे नहीं रहा। जर्मनी ने भी ड्रेडनाट जैसे जहाज बनाना शुरू कर दिया। 1906 में जर्मन-नौ-सेना-संशोधन अधिनियम पारित हुआ। इसके अनुसार जर्मन जहाजी बेड़े में 5 बड़े जंगी जहाज (Dreadnought) और बढ़ा दिये गये। अब जर्मन नौ-सेना पर बहुत अधिक खर्च होने लगा। एक वर्ष तक होड़ को बन्द रखने (Naval Holiday) का समझौता भी हुआ, किन्तु इसका कोई सुपरिणाम नहीं निकला। दोनों देशों के बीच घातक नौ-सैनिक होड़ चलती रही।

हेग सम्मेलन

हथियारबन्दी की इस होड़ का खर्चा यूरोपीय देशों के लिए असह्य हो गया। 1873 में यूरोप के विभिन्न देश सेना और युद्ध-सामग्री के लिए कुल मिलाकर लगभग 1,15,00,000 रुपये खर्च करते थे। 1913 में यह संख्या बढ़कर 5,68,20,00,000 हो गई। इस अपार व्यय से मुक्ति पाने के लिए यूरोपीय राज्य यह सोचने पर बाध्य हुए कि समस्या का कोई हल निकाल जाए।

रूस के जार निकोलस द्वितीय के प्रयास से 1899 में यूरोप के राज्यों का एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। 18 मई से आरम्भ होने वाले इस सम्मेलन में 26 राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हुए। हथियारबन्दी की होड़ को रोकने का प्रयत्न करना सम्मेलन का प्रमुख काम था। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों ने विभिन्न प्रस्ताव रखे। रूस ने यह व्यावहारिक प्रस्ताव रखा कि कम से कम पांच वर्ष के लिये सैनिक संख्या और सैनिक बजट में कोई वृद्धि न की जाए, किन्तु जर्मनी ने इस प्रस्ताव को ठुकराते हुए निःशस्त्रीकरण का इतना जबरदस्त विरोध किया कि हेग सम्मेलन टांय-टांय-फिस हो गया। 29 जुलाई को सम्मेलन विसर्जित कर दिया गया।

प्रथम हेग सम्मेलन की असफलता से विश्व-शांति को गहरा आघात पहुँचा। शस्त्रीकरण तेज होता गया। कुछ समय बाद ही दक्षिण अफ्रीका, पूर्वी एशिया आदि में साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध होने लगे। हथियारबन्दी की होड़ और भी प्रचण्ड हो गई। जार निकोलस द्वितीय के प्रयत्नों से 15 जून, 1907 को हेग में पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन प्रारम्भ हुआ जिसमें 44 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दुर्भाग्यवश यह सम्मेलन भी निःशस्त्रीकरण की समस्या का हल न कर सका और 18 अक्टूबर को समाप्त हो गया। यूरोप आत्म-हत्या के मार्ग पर बढ़ चला।

हेग सम्मेलनों की असफलता के कारण—यूरोपीय इतिहास में इन दोनों हेग सम्मेलनों की असफलता से विश्व प्रथम-महायुद्ध की दिशा में आगे बढ़ा। ये सम्मेलन निम्न कारणों से असफल हुए—

(1) रूस की नियत पर अनेक राज्यों को संदेह हुआ। उनका कहना था कि निःशस्त्रीकरण का प्रयास रूसी साम्राज्यवादियों की कूटनीतिक चाल थी। निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव द्वारा रूस चुपचाप हथियारबन्दी करने के लिए समय चाहता था। इस सन्देह ने हेग सम्मेलन में रूसी प्रयत्नों को ठोकर लगाई।

(2) सम्मेलनों में जो भी राज्य सम्मिलित हुए, सभी एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते थे। सद्भावना का वातावरण न होने पर निःशस्त्रीकरण जैसी नाजुक समस्या का हल निकलना असम्भव था।

(3) यूरोपीय देशों में पूंजीपति–वर्ग प्रभावशाली हो गया था। पूंजीपतियों का स्वार्थ हथियारवन्दी की होड़ जारी रखने में निहित था। अतः उन्होंने अपनी सरकारों पर दवाव डाला कि वे निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को सफल न होने दें। पूंजीपतियों के प्रभाव की अवहेलना करना सरल नहीं था।

(4) जर्मन सरकार की दुराग्रही नीति हेग सम्मेलनों की असफलता का एक वड़ा कारण वनी। जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों को खुलेआम ठुकराया और कहा कि ऐसे प्रस्ताव जर्मन की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को चुनौती है।

महत्व—यद्यपि निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में हेग सम्मेलनों को कोई सफलता नहीं मिली, पर ये एकदम महत्व शून्य नहीं रहे। इन हेग सम्मेलनों ने कुछ महत्वपूर्ण कार्य किए––

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनेक नियम लागू किए।

2. युद्ध के नियमों को मानवीय रूप देने के अनेक प्रयत्न किए।

3. एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी पंचायती न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना की गई। राष्ट्रों के झगड़ों को पंचायत द्वारा सुलझाने का प्रयास किया गया था। इस न्यायालय ने यूरोपीय राष्ट्रों के वीच के अनेक झगड़ों को तय भी किया।

इस तरह हेग सम्मेलनों के कार्य एकदम वेकार नहीं रहे। हां, निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में ये सम्मेलन सर्वथा निष्फल रहे।

---

10 प्रथम महायुद्ध
(1914–1918)
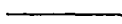
"प्रथम महायुद्ध उन दो यूरोपीय गुटों की शक्ति का प्रदर्शनमात्र था, जो अपनी ताकत अजमाने के लिए बेताब थे।"

पृष्ठभूमि

अब तक के वर्णन में हम देख चुके हैं कि प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने से काफी समय पूर्व यूरोप में पांच महा-शक्तियां विद्यमान थीं—आस्ट्रिया, फ्रांस, ग्रेट–ब्रिटेन, प्रशा और रूस। कुछ समय बाद इटली का एकीकरण हो जाने से वह छठी शक्ति बन गया। और जर्मन साम्राज्य का एकीकरण हो जाने पर प्रशा का स्थान जर्मनी ने ले लिया। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इन राज्यों की शक्ति में सन्तुलन बना रहा, किन्तु इसके बाद यह सन्तुलन पहले शनैः–शनैः और फिर तेजी से बिगड़ने लगा। यूरोप का वातावरण नाना विषम कारणों से क्षुब्ध होता गया। यूरोपीयन देशों में शस्त्रीकरण की होड़ लग गई। प्रमुख शक्तियां साम्राज्य विस्तार की नीति पर चल पड़ी और छोटे-छोटे राज्य भी पीछे न रहे। धीरे-धीरे यूरोप दो सैनिक कैम्पों में बंट गया। सन्धियों और गुप्त सन्धियों ने यूरोप को दो शक्तिशाली गुटों में विभाजित कर दिया जो एक दूसरे को हमेशा सन्देह की दृष्टि से देखने लगे और बड़ी तेजी से अपनी सेना और नौ–सेना को बढ़ाने लगे।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ऐसा प्रतीत होने लगा मानो यूरोपीय देश किसी ज्वालामुखी पर्वत पर बैठे हैं। सबको भय था कि न जाने किस समय ज्वालामुखी फूट पड़े। इसमें न जाने कौन भस्म हो जाए और कौन बचा रहे? इस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता में अफ्रीका और एशिया को कोई स्थान नहीं था। परस्पर सन्देह करने वाले या डरने वाले और लड़ने के लिये तैयार होने वाले सब यूरोपीयन देश थे। इनमें से हर–एक संसार पर अपना आधिपत्य कायम करना चाहते थे। शस्त्रीकरण की होड़, सैन्य शक्ति में असीम वृद्धि, साम्राज्यवादी आकांक्षा और बाल्कान युद्धों आदि के कारण यूरोप एक विशाल बारूद का घर बन चुका था। यह बारूद-घर एक चिन्गारी से ही धधक उठने वाला था। यह चिन्गारी भी 28 जून, 1914 को लग गयी जिससे ऐसा धड़ाका हुआ कि सारा संसार थर्रा उठा।

प्रथम महायुद्ध का आरम्भ

इस दिन अर्थात् 28 जून, 1914 को आस्ट्रिया के युवराज और उसकी पत्नी दोनों की वोसनिया की राजधानी सेराजिवो में हत्या करदी गई। वध करने वाला युवक सर्विया की एक आतंकवादी पार्टी का सदस्य था। सर्विया ने पहले ही चेतावनी दे दी थी कि आस्ट्रिया और वोसनिया को अपने साम्राज्य में मिला लेने से लोग वड़े नाराज हैं और क्रान्तिकारी सक्रिय हैं, अतः राजकुमार को दौरा नहीं करना चाहिये, लेकिन आस्ट्रिया की सरकार ने इस चेतावनी की परवाह नहीं की।

इस घटना से सारा आस्ट्रिया सर्विया के विरुद्ध रोष से भर उठा। आस्ट्रिया ने सर्विया के सामने इस हत्या काण्ड के सम्वन्ध में कुछ मांगें रखीं। सर्विया ने लगभग सभी मांगें मानली, सिवाय इसके कि सर्विया के न्यायालयों में हत्याकाण्ड की जांच के दौरान आस्ट्रिया के अधिकारी भी न्यायाधीश की तरह वैठें। सर्विया इस प्रश्न को हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में या महान् शक्तियों के समक्ष रखने को तैयार हो गया। पर आस्ट्रिया तो युद्ध के लिये तुला वैठा था। उसने अपनी शर्तों को पूरा करने के लिये सर्विया को केवल 48 घन्टों का समय दिया था जो वहुत ही कम था, फिर भी सर्विया ने वड़े विवेक से काम लिया था। लेकिन आस्ट्रिया का विवेक युद्ध के नशे में गायव हो चुका था; अतः युवराज फर्डिनेन्ड की हत्या के ठीक एक माह वाद 28 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया ने सर्विया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। आस्ट्रियन सेना ने दो दिनों में ही वेलग्रेट पर अधिकार कर लिया। 29 जुलाई को रूस ने सर्विया के पक्ष में युद्ध-संचालन का आदेश दे दिया। उधर जर्मनी ने, जो युद्ध के अवसर की ताक में ही था, 1 अगस्त को रूस के विरुद्ध, 3 अगस्त को फ्रांस के विरुद्ध तथा 4 अगस्त को वेल्जियम के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। वेल्जियम एक तटस्थ देश था जिसके वारे में यह अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हो चुका था कि न तो उसको किसी देश से युद्ध करना चाहिये था और न अन्य किसी देश को उससे युद्ध करना था। इस समझौते पर इंगलैण्ड, फ्रांस, प्रशा, आस्ट्रिया और रूस ने हस्ताक्षर किये थे और पिछले 80 वर्षों से इसका पालन होता आ रहा था। लेकिन जब जर्मनी ने वेल्जियम की स्वतन्त्रता का अन्त करना चाहा तो इंगलैण्ड उदासीन न रह सका। वढ़ता हुआ सैनिक-जर्मनी उसकी सुरक्षा के लिये भी एक खतरा था। फलतः वेल्जियम के सम्राट की प्रार्थना पर 4 अगस्त को इंगलैंड ने जर्मनी पर आक्रमण कर दिया। कुछ सप्ताह में जापान और मान्टेगरी मित्र-राष्ट्रों में मिल गये और आटोमन साम्राज्य जर्मनी तथा आस्ट्रिया-हंगरी में मिल गये। युद्ध क्षेत्र का तेजी से विस्तार होता गया और शीघ्र ही सारे संसार में युद्ध की ज्वाला धधकने लगी। युद्ध-क्षेत्र में विश्व के सभी प्रमुख राष्ट्र आ गये। अन्तिम विश्लेपण में वे निम्नलिखित रूप से पंक्तिवद्ध हो गये—

(i) मित्र तथा संयुक्त राष्ट्रों (Allied Powers) में इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, सर्विया, जापान, पुर्तगाल, इटली, संयुक्त राष्ट्र, रूमानिया, यूनान, स्याम, लाइवेरिया, चीन, क्यूबा, पनामा, ब्राजील, ग्वेटेमाला, नाइकरगुआ, कोस्टारिका, हेटी, होंडरस आदि थे।

(ii) केन्द्रीय शक्तियों (Axis Powers) में जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, वल्गेरिया और टर्की थे।

संसार के इतिहास में यह प्रथम युद्ध था जिसमें छोटे–वड़े मिलाकर संसार भर के 30 राष्ट्रों ने भाग लिया। संसार की लगभग 87 प्रतिशत जनसंख्या इस महायुद्ध में शामिल हुई जिसमें से 90 प्रतिशत मित्र राष्ट्रों के साथ थी। महायुद्ध में शामिल न होने वाले देश इने-गिने ही थे। यूरोप के हॉलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड और स्पेन—ये आधा दर्जन देश ही महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुए अथवा सम्मिलित होने से वच गये। शेष सब देशों ने युद्ध में भाग लिया। इन यूरोपीय देशों के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों में से युद्ध में भाग न लेने वाले मक्सिको, चिली और कुछ अन्य अमेरिकन राज्य थे।

संसार के इतिहास में यह पहला युद्ध था जिसमें पहलीवार वायुयानों, टैंकों, विषैली गैसों और पनडुब्वियों का प्रयोग हुआ। इस युद्ध में प्रचार और कूटनीति के सभी यन्त्र काम में लाये गये।

प्रथम महायुद्ध के कारण

सन् 1914 से 1918 तक अर्थात् 4 वर्षों तक चलने वाले इस महा-युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—

1. उग्र राष्ट्रीयता की भावना—फ्रांस की राज्य-क्रांति ने यूरोपियन देशों में राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करदी थी। आगे चलकर इसने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया। हर राष्ट्र के लोग अपनी सभ्यता–संस्कृति, आचार-विचार को अन्य राष्ट्रों से अच्छा समझने लगे। वड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों पर हावी होने लगे। उग्र राष्ट्रीयता का नशा जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि देशों पर ही नहीं चढ़ा वरन् वाल्कान प्रायद्वीप के यूनान, सर्विया आदि छोटे-छोटे देशों पर भी चढ़ गया। उग्र राष्ट्रीयता की लहर में वहकर राज्यों को अन्य देशों के हितों, स्वार्थों और इच्छाओं का कोई ध्यान न रहा। प्रत्येक राष्ट्र ने केवल अपनी शक्ति, समृद्धि और व्यापार को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। इससे औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धा पैदा हो गयी। यूरोप का वातावरण विषाक्त वन गया। यूरोपीय देश गुटबन्दी में फंस गए।

2. आर्थिक साम्राज्यवाद—व्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रांति और यूरोप के अन्य देशों में हुए औद्योगिक विकास के कारण साम्राज्य निर्माण की महत्वाकांक्षा पुष्पित–पल्लवित होती गई। एक ओर तो कच्चे माल के स्रोत तलाश करना आवश्यक हो गया और दूसरी ओर कारखानों में निर्मित माल को वेचने के लिए

बाजारों की आवश्यकता अनुभव हुई। चूंकि कच्चे माल के स्रोत और निर्मित माल की बिक्री के लिए बाजार सीमित थे, अतः उन पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए यूरोपीय राज्यों के बीच होड़ होना स्वाभाविक था। यूरोप के अतिरिक्त शेष संसार औद्योगिक एवं तकनीकी दृष्टि से बड़ा अविकसित और पिछडा हुआ था। वह इतना सक्षम न था कि सम्पन्न एवं समृद्ध तथा आधुनिक सभ्यता के प्रतीक पश्चिमी राष्ट्रों का मुकाबला कर सके। इन परिस्थितियों में नतीजा यह निकला कि यूरोप के शक्तिशाली देशों ने एशिया एवं अफ्रीका के अधिकांश देशों को अपना गुलाम बना लिया। अब संघर्ष इन गुलाम देशों के पुनर्विभाजन का था, और यह पुनर्विभाजन केवल युद्ध द्वारा ही सम्भव हो सकता था। स्पष्ट है कि आर्थिक साम्राज्यवाद महायुद्ध को निकट ले आया।

3. सैनिकवाद—उग्र-राष्ट्रीयता और आर्थिक साम्राज्यवाद की सफलता के लिए यूरोपीय देशों ने अपनी सैन्य-शक्ति में अत्यधिक विस्तार किया। सभी प्रमुख राष्ट्रों ने अनिवार्य सैनिक शिक्षा चालू कर दी। शस्त्रीकरण और नौ-सेना वृद्धि की होड़ लग गई। सभी राष्ट्र सैनिक-शक्ति के प्रयोग के लिए मचलाने लगे। एकीकृत इटली के मस्तिष्क में प्राचीन रोमन साम्राज्य की स्मृतियां गूंजने लगी। नवयुवकों को सिखाया गया कि वे महान् विजेता जूलियस सीजर के उत्तराधिकारी हैं, अतः उनमें इस संसार को विजय करने की भावना होनी चाहिए। फ्रांस एक बार फिर प्रशा (जर्मनी) से टक्कर लेने को आतुर हो गया क्योंकि वह अपनी पिछली पराजय को भुला नहीं सका था। जर्मनी ने सैनिक दृष्टि से अपने को सबसे अधिक सबल बनाया। जर्मन लोगों का यह सिद्धान्त बन गया कि 'शान्ति कोरा स्वप्न है जबकि युद्ध एक आवश्यक तत्व है जिसके न होने पर संसार गंदले पानी की भांति सड़ने लगेगा। जर्मनी में सैनिक प्रदर्शन होने लगे। कभी नौ-सेना प्रदर्शन करती थी तो कभी स्थल सेना। जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय के स्वभाव में ही सैनिकता थी। सन् 1895 में उसने घोषणा कर दी कि जर्मनी विश्व-शक्ति है और अब इसके भविष्य का निर्माण समुद्र पर होगा। सन् 1900 के जर्मन नौ–सेना अधिनियम की प्रस्तावना में स्पष्टतः घोषित किया गया कि "जर्मनी का नौ-सैनिक बेड़ा इतना शक्तिशाली होगा कि यदि सबसे अधिक बलशाली नौ–सैनिक शक्ति भी उससे संघर्ष करेगी तो उसकी महानता के लिये खतरा उत्पन्न हो जायेगा।" जर्मन नौ-सेना के विस्तार से आशंकित होकर ब्रिटेन ने भी तेजी से अपनी यौद्धिक-शक्ति का विकास किया। इस सैनिकवादी वातावरण में युद्ध की संभावनायें प्रबल हो गईं।

4. संधियां और राजनीतिक गुटबन्दियां—1870 से 1914 के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सन्धियों और राजनीतिक गुटबन्दियों की राजनीति रही। सन्धियां और गुप्त-सन्धियों के जाल ने यूरोप को दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित कर दिया–जर्मनी, हंगरी और इटली ने अपने गुट का निर्माण कर लिया। उधर रूस, फ्रांस और इंगलेण्ड संगठित हो गये। ये दोनों गुट एक दूसरे को हमेशा

सन्देह की दृष्टि से देखने लगे और बड़ी तेजी से अपनी सैनिक-शक्ति का विस्तार करने लगे। इस गुटबन्दी ने युद्ध का रूप धारण कर लिया।

5. विषाक्त एवं झूठा प्रचार—युद्ध का एक मौलिक कारण अखबारों द्वारा लोकमत को विषाक्त बनाना था। यह लगभग सभी बड़े देशों में हुआ। राष्ट्रीय भावनाओं को उभारना, दूसरे देशों की स्थिति के बारे में गलत प्रचार करना और शान्ति कायम करने वाली बातों को दबाना, यह सब अखबारों का काम था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अखबारों ने राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों को बढ़ाने में और युद्ध की भूमिका तैयार करने में बड़ा योग दिया।

6. जर्मन सम्राट की विकृत देशभक्ति—जर्मनवासी स्वयं को संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति समझने लगे थे, वास्तव में इस भावना के पीछे उग्र-राष्ट्रीयता थी। वे विदेशियों को तुच्छ और घृणास्पद मानने लगे। ऐसी उग्र-राष्ट्रीयता ने उनके मन में एक विकृत देशभक्ति की भावना पैदा कर दी। जर्मन-सम्राट और चान्सलर स्पष्ट रूप से कहा करते थे कि वे लोग ईश्वर के सबसे अधिक प्रिय पुत्रों में से हैं और ईश्वर ने उन्हें संसार में इसलिए भेजा है कि वे अन्य देशों को सभ्य बना सकें। ऐसी भावना ने संकीर्णता को जन्म दिया और यह संकीर्णता आगे चल कर युद्ध का कारण बन गई।

7. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अभाव—उस समय युद्ध का वातावरण द्रुतगति से विकसित होता जा रहा था किन्तु बीच-बचाव का प्रयत्न करने के लिये ऐसी संस्था नहीं थी जो झगड़ों को शान्ति से हल करा देती। यद्यपि रूस ने इस ओर प्रयत्न किया किन्तु उसे पूर्णतया सफलता न मिल सकी। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अभाव में सभी राष्ट्र स्वेच्छाचारी बनते जा रहे थे। अतः इस महायुद्ध को न रोका जा सका।

8. जनमत की अवहेलना—यूरोप के राज्यों में जनमत की उपेक्षा की जाती थी। केवल विशेष अधिकारी-वर्ग ही शासन में सभी कार्यों में अधिकार जमाये बैठा था। इससे देश के व्यवस्थापन विभाग को भी कई बातों का पता न चलता था। कई गुप्त सन्धियों से मंत्रिमण्डल भी अपरिचित रह जाता था। इससे जनता का विश्वास सरकार से उठने लगा था। प्रायः सभी कार्यालय रिश्वतखोरी, जालसाजी और अनाचार के अड्डे बन गए थे। इससे यूरोपीय राज्यों में युद्ध की भावना बढ़ती गई।

9. जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय की अयोग्यता—विलियम द्वितीय जर्मनी का अयोग्य शासक था। वह महत्वाकांक्षी होने के कारण जर्मनी को महान् शक्ति बनाना चाहता था। उसकी नीति थी कि या तो जर्मनी महान् शक्ति बन जाए अन्यथा उसका पतन हो जाए। वह किसी से समझौता नहीं चाहता था। वह स्वेच्छाचारी था। उसकी अंग्रेजों के प्रति गलत-धारणा युद्ध का कारण बनी।

10. जर्मनी की प्रशियन नीति—जर्मनी ने प्रशियन नीति का अनुसरण किया। इस नीति के अनुसार विजेता कभी गलती नहीं करता और युद्ध का परिणाम सदैव अच्छा ही होता है। जर्मन नेताओं का कथन था कि रक्त-रंजित विजय के बाद संसार को जर्मनी के सिद्धान्तों से सुख-शान्ति मिलेगी। इस नीति से विश्व-युद्ध छिड़ गया।

11. निकट पूर्वी समस्या—जर्मनी पूर्व में अपना विस्तार करना चाहता था। अतः उसने टर्की से मित्रता स्थापित की। टर्की और रूस में बाल्कान प्रदेश पर मतभेद था। रूस बाल्कान पर अधिकार करना चाहता था। अतः जर्मनी ने टर्की का पक्ष लेकर रूस का विरोध किया। टर्की में जर्मनी ने बगदाद रेल्वे के निर्माण की आज्ञा मांगी। इस रेल्वे लाइन से इंगलैण्ड को भय हो गया। जर्मनी ने इस रेल्वे लाइन के लिए आस्ट्रिया से भी मित्रता कर ली। यूरोप के अन्य राष्ट्रों ने इसका विरोध किया, क्योंकि इससे जर्मनी का साम्राज्य पूर्व में बढ़ जाता। इससे यूरोप में युद्ध की आग सुलगने लगी।

12. आस्ट्रिया की नीति—बाल्कान प्रायद्वीप में आस्ट्रिया ने सर्विया शक्ति का सदैव विरोध किया, क्योंकि सर्विया-शक्ति के बढ़ जाने पर आस्ट्रिया में विद्रोह की सम्भावना थी और बहुत से सर्व आस्ट्रिया में रहते थे। अतः आस्ट्रिया ने अपनी जनता की इच्छा के विरुद्ध सर्विया के राजा से मित्रता कर ली; किन्तु राजा के मरने पर पीटर ने आस्ट्रिया से मित्रता तोड़ दी और रूस से मित्रता कर ली। यह बात जर्मनी और आस्ट्रिया को सहन न हुई।

13. इटली की इच्छा—ट्रीस्टे बन्दरगाह का निकटवर्ती प्रदेश आस्ट्रिया हंगरी के अधिकार में था। इटली की जनता उस पर अधिकार करना चाहती थी। अतः जनता ने आन्दोलन करके राजनीतिज्ञों का ध्यान ट्रीस्टे बन्दरगाह की तरफ आकर्षित किया। इस आन्दोलन से भी युद्ध की चिनगारियां सुलगने लगीं।

14. बोसनिया एवं हर्जगोविना-समस्या—सन् 1878 की बर्लिन सन्धि के अनुसार बोसनिया और हर्जगोविना के शासन-प्रबन्ध का अधिकार ही आस्ट्रिया हंगरी को दिया गया था किन्तु सन् 1908 में आस्ट्रिया-हंगरी ने इन दोनों प्रान्तों को अपने साम्राज्य में मिला दिया जब कि वे दोनों प्रान्त स्वतन्त्रता चाहते थे। सर्विया ने इनकी मदद की। बाल्कान प्रदेश में युद्ध की सम्भावना बढ़ते-बढ़ते सन् 1914 में युद्ध का रूप धारण कर गई।

15. विशेष तात्कालिक कारण—आस्ट्रियन राजकुमार की हत्या से आस्ट्रिया हंगरी एवं सर्विया में तनातनी थी। सन् 1909 में दोनों के सम्बन्ध अत्यन्त खराब हो गये। आस्ट्रिया के विरुद्ध काफी प्रचार हो रहा था। इसी समय आस्ट्रिया के राजकुमार आर्कड्यूक फर्डीनिन्ड अपनी पत्नी सहित बोसनिया के सेराजिवो नगर के भ्रमण पर गया। आवेश में आकर कुछ क्रान्तिकारियों ने उसका पत्नी-सहित

वध कर दिया। आस्ट्रिया ने इसका कारण सर्विया को वतलाया। जर्मनी ने आस्ट्रिया की मदद देने का वचन दे दिया और आस्ट्रिया ने सर्विया को युद्ध की चेतावनी भेज दी। उधर रूस ने सर्विया को सहायता देने का वचन दिया और सर्विया ने आस्ट्रिया की युद्ध की चुनौती स्वीकार कर ली। इस प्रकार 28 जुलाई सन् 1914 को प्रथम विश्व-युद्ध की घोषणा हो गई।

महायुद्ध की महत्वपूर्ण घटनाएं

28 जुलाई, 1914 से प्रारम्भ होने वाले महायुद्ध का अन्त मित्र और संयुक्त राष्ट्रों की विजय में हुआ। महायुद्ध के प्रथम दो वर्षों में जर्मन गुट को आशातीत सफलताएं प्राप्त हुईं, किन्तु 1917 में ये लक्षण प्रकट हो गये कि केन्द्रीय शक्तियों को निकट भविष्य में पराजित होना पड़ेगा।

जर्मनी को पूर्व में रूस से और पश्चिम में फ्रांस से लड़ना था। फ्रांस को ठिकाने लगा कर ही वह रूस से पूरी ताकत के साथ उलझना चाहता था। फ्रांस पर आक्रमण वेल्जियम से होकर आसानी से किया जा सकता था, अतः जर्मनी ने वेल्जियम से मांग की कि वह जर्मन फौजों को अपने प्रदेश में से गुजरने दे। यह मांग ठुकरा दिये जाने पर वेल्जियम को जर्मन सेनाओं का सामना करना पड़ा। लीज (Liege) और नामूर (Namur) नामक स्थानों पर भयंकर युद्ध हुए। जबरदस्त प्रतिरोध के बाद वेल्जियम का पतन हो गया। किन्तु इस वीच फ्रांस को सैनिक तैयारी का मौका मिल गया। जर्मन सेनाएं तेजी से फ्रांस-वेल्जियम सीमा की ओर वढ़ी। शार्लरूआ (Charleroi) नामक स्थान पर फ्रेन्च फौजों को परास्त करने के वाद मांस (Mons) पर आक्रमण हुआ जिसमें फ्रांस की मदद के लिए आई हुई ब्रिटिश फौजों को भाग कर अपनी रक्षा करनी पड़ी। विजयी जर्मन सेना मित्र राष्ट्रों के पश्चिमी तथा मध्य भाग को पिछे धकेलते हुए वर्दून (Verdun) जा पहुंची। फिर मॉर्न (Marne) नदी पार करके वह फ्रेन्च राजधानी पैरिस की ओर वढ़ी। इस दौरान एल्सास लोरेन पर फ्रांस ने हमला किया जो असफल रहा। जर्मन सेनाएं पेरिस से केवल 25 मील दूर रह गईं। फ्रेन्च-सरकार पैरिस छोड़ कर वोर्डो (Bordeaux) चल गई। पैरिस का पतन अनिवार्य दिखाई पड़ने लगा, किन्तु फ्रांसीसीयों ने हिम्मत नहीं हारी। जर्मन फौजें इतनी तेजी से आगे वढ़ी थी कि उनमें अव्यवस्था पैदा हो गई थी और अगली तथा पिछली सेनाओं में बहुत दूरी पड़ गई थी। फ्रेन्च सेनापति फौश (Foch) ने मार्न नामक स्थान पर जर्मन सेना को परास्त किया। पराजित जर्मन फौजें भाग कर आइन (Aine) नदी के उत्तरी किनारे की ओर चली गईं। मार्न का युद्ध छः दिन तक चला। इसमें जर्मनी की हार से न केवल पैरिस की ही रक्षा हुई वरन् फ्रांस को डेढ़ माह में कुचल देने की जर्मन योजना भी विफल हो गई। इसके अतिरिक्त मित्र-राष्ट्रों को अधिक संगठित होकर शत्रु से जूझने का अवसर भी मिल गया।

आइन नदी के किनारे पर फ्रेन्च और जर्मन सेनाओं में डटकर युद्ध होता रहा, पर कोई भी पक्ष पराजित न हो सका। युद्ध के इस पश्चिमी मोर्चे पर गत्यावरोध उत्पन्न हो गया। खाइयों की लड़ाई आरम्भ हुई। दोनों पक्षों की फौजें स्विट्जरलैण्ड से लेकर उत्तरी सागर तक लगभग 600 मील लम्बी खाइयों के जरिये चार साल तक लड़ती रहीं।

इस बीच जर्मन फौजों ने बेल्जियम को रौंद डाला। अन्टवर्प (Antwerp) जीत लिया गया, किन्तु कैले (Calais) बन्दरगाह जी-तोड़ कोशिशों के बाद भी जीता नहीं जा सका। इप्र (Ypres) तथा आरा (Arras) पर ब्रिटिश एवं फ्रेन्च फौजों ने जबरदस्त हमले किए गए किन्तु दाल नहीं गली। फ्रांस पर अपनी विजय-पताका फहराने का स्वप्न जर्मनी पूरा नहीं कर सका। फिर भी एक विशाल क्षेत्र पर उसका अधिकार हो गया। बेल्जियम और उत्तरी फ्रांस की कोयले की खानों और फ्रांसीसी लौरेन-प्रदेश की लोहे की खानों पर कब्जा हो जाने से जर्मनी में लम्बे समय तक युद्ध करते रहने की क्षमता पैदा हो गई।

पूर्वी मोर्चे पर भी पश्चिमी मोर्चे की भांति ही गत्यावरोध पैदा हो गया। प्रारम्भ में तो रूसी फौजों ने सफलता प्राप्त की किन्तु बाद में जर्मन सेनापति हिन्डेनबर्ग (Hindenburg) ने टानेनबर्ग (Tannenberg) के युद्ध में रूसियों को बुरी तरह हराया (अगस्त 26–29, सन् 1914)। जर्मनी की यह विजय इतनी निर्णायक थी कि सम्पूर्ण शत्रु-सेना तहस-नहस करदी गई और लगभग सवा लाख रूसी सैनिक बन्दी बना लिए गए। इस प्रकार पूर्वी प्रशा पर रूसी आक्रमण पूरी तरह विफल रहा। आस्ट्रिया पर हमले में रूसियों ने आगे बढ़ते हुए गैलीशिया (Galicia) को रौंद डाला तथा कारपेथिया (Carpathia) के दर्रों पर कब्जा कर लिया। किन्तु शीघ्र ही जर्मन सेनापति मैकेनसेन (Mackensen) ने रूसी फौजों को न केवल गैलीशिया से खदेड़ बाहर किया बल्कि आगे बढ़ कर वारसा (Warsaw) पर भी अधिकार कर लिया। किन्तु अब यहां भी गत्यावरोध उत्पन्न हो गया। पश्चिमी मोर्चे की तरह इस पूर्वी मोर्चे पर भी खाइयों के युद्ध आरम्भ हो गये। पूर्वी प्रशा की सीमा से शुरु हो कर कारपेथियन-पर्वतों तक लगभग नौ सौ मील लम्बी सीमा पर खाइयों की लड़ाई चलती रही।

महायुद्ध में पहले इटली की सहानुभूति जर्मन गुट के साथ थी, किन्तु 26 अप्रेल, 1915 को मित्र राष्ट्रों के साथ एक गुप्त सन्धि करने के बाद एक महीने के भीतर ही इटली ने केन्द्रीय शक्तियों के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया (23 मई, सन् 1915)। इटली आस्ट्रिया से कुछ ऐसे क्षेत्र पुनः लेना चाहता था जो पहले इटली के अधिकार में थे। मित्र-राष्ट्रों ने इटली को उसकी मांगे पूरी करने का आश्वासन दे कर अपने पक्ष में कर लिया।

टर्की युद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ था। डार्डनिल्स (Dardanells) पर अधिकार होने से उसने रूस तथा मित्र-राष्ट्रों के बीच यातायात रोक दिया।

फ्रांस और इंगलैंड की संयुक्त जल-सेना ने डार्डनिल्स पर अधिकार करने की जी-तोड़ कोशिश की, किन्तु अनेक युद्ध-पोतों का बलिदान देकर भी वह असफल रही। तब डार्डनेल्स से मिले हुए गैलीपोली (Gallipoli) प्रायद्वीप में स्थल-फौजें उतारी गईं लेकिन उन्हें भी दिसम्बर, 1915 में वापस लौट जाना पड़ा। समूचे महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों की यह सम्भवतः सबसे बड़ी पराजय थी।

सर्बिया और आस्ट्रिया के युद्ध में प्रथम वर्ष में तो सर्बिया प्रबल रहा, किन्तु दूसरा वर्ष उसके लिए दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। अक्टूबर, 1915 में उत्तर से आस्ट्रिया तथा जर्मनी की संयुक्त फौजों ने और दक्षिण से बल्गेरियन सेना ने सर्बिया को घेर लिया। मित्र-राष्ट्रों की सहायता के बावजूद समूचे सर्बिया पर शत्रुओं का अधिकार हो गया।

सन् 1916 में पश्चिमी मोर्चे पर दो बड़ी लड़ाइयां हुईं—पहली वर्दून (Verdun) की और दूसरी सोम (Somme) की। वर्दून का किला फ्रांस का सिंह-द्वार था। 21 फरवरी, 1916 को जर्मन-युवराज के नेतृत्व में किले पर भयंकर आक्रमण किया गया। यह युद्ध जुलाई, 1916 तक चला जिसमें दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ी। वर्दून पर जर्मनी का कब्जा नहीं हो सका। आमीन के पूर्व तथा उत्तर-पूर्व में जुलाई से नवम्बर तक सोम (Somme) का युद्ध हुआ। इसमें पहले पहल टैंकों से काम लिया गया। मित्र-राष्ट्रीय फौजें बेहद कोशिशों के बावजूद जर्मन रक्षा-पंक्ति को नहीं तोड़ सकीं। किन्तु सोम के युद्ध से उन्हें यह लाभ अवश्य हुआ कि वर्दून पर जर्मनी का जोर कम हो गया और फ्रांस ने अपने हारे हुए प्रदेश पुनः जीत लिए।

युद्ध के पूर्वी मोर्चे पर रूस ने आस्ट्रिया को खदेड़ दिया। बाद में जर्मन फौजों के आ पहुंचने पर रूसियों की गति रुक गई। इटली ने ईसोन्जो (Isonzo) नदी के किनारे युद्ध छेड़ दिया और गोरिजिया (Gorizia) पर कब्जा कर लिया। रूमानियां ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हुए ट्रांसिलवानियां (Transylvania) पर हमला बोल दिया। किन्तु ऑस्ट्रो-जर्मन फौजों ने उसे बुरी तरह पराजित किया। राजधानी बुखारेस्ट (Bucharest) पर शत्रुओं का अधिकार हो गया। रूमानियां के पतन से यूनान को छोड़ कर बाल्कान प्रायद्वीप के अन्य सभी राज्य केन्द्रीय शक्तियों के अधीन हो गए।

स्थल युद्ध के साथ ही अनेक स्थानों पर जल-युद्ध भी हुए जिनमें जर्मनी को भारी क्षति उठानी पड़ी। सन् 1915 में डोगर बैंक (Dogger Bank) के समीप और हेलीगोलैंड (Heligoland) की खाड़ी में हुए महत्वपूर्ण जल-युद्धों में जर्मनी को बुरी तरह परास्त होना पड़ा। 1916 में जटलैण्ड (Jutland) का भीषण सामुद्रिक युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों की भारी क्षति हुई। यद्यपि जर्मनी की तुलना में इंगलैण्ड को अधिक हानि उठानी पड़ी, किन्तु इस युद्ध के बाद जर्मन के जहाजी बेड़े ने उत्तरी सागर में प्रवेश करने का साहस नहीं किया। सामुद्रिक युद्धों में

जर्मनी ने पण्डुब्बियों (Submarines) से भी काम लिया। पर ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति ने जर्मन नौ-शक्ति को हर जगह मात दी। समुद्र पर ब्रिटेन का आधिपत्य कायम रहा। फलस्वरूप न केवल ब्रिटिश समुद्र तट जर्मन आक्रमण से बचा रहा बल्कि मित्र-राष्ट्र सामुद्रिक मार्ग से अपनी युद्ध-सामग्री और सेना युद्ध-क्षेत्र में इधर-उधर भेजते रहे। ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति ने मित्र-राष्ट्रों के व्यापार की भी रक्षा की।

सन् 1917 से ही ये आसार प्रकट होने लगे कि जर्मन गुट अपनी प्रारम्भिक सफलताओं को कायम नहीं रख सकेगा और उसे अन्ततः पराजित होना पड़ेगा। 1916 में हुई सोम की लड़ाई के बाद 1917 के आरम्भ में जर्मन-फौजें पीछे हटती हुई हिण्डेनबर्ग पंक्ति (Hindenburg Line) पर डट गईं। वहां जर्मनी की बहुत ही जबरदस्त किलेबन्दी थी। पीछे लौटती हुई जर्मन-सेना ने उन सभी वस्तुओं को नष्ट कर दिया था जिनके सहारे मित्र-राष्ट्रीय फौजें आगे बढ़ सकती थीं। फिर भी फ्रेन्च और ब्रिटिश फौजों ने जर्मनों पर अपने प्रबल आक्रमण किए। आरा के युद्ध में ब्रिटिश सेना ने विमी रिज (Vimy Ridge) पर अधिकार कर लिया। 1917 में ही रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई और संयुक्त राज्य अमेरिका मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में कूद पड़ा। नवम्बर, 1917 में 65 वर्षीय फ्रांसीसी मार्शल फौच को मित्र-राष्ट्रों की सेना का प्रथम सेनापति बनाया गया। इस समय तक दोनों ओर से अधिकांशतः खाइयों की अनिर्णित लड़ाइयां होती रहीं, तथापि मार्शल फौच के नेतृत्व में मित्र-राष्ट्रीय फौजें अधिक व्यवस्थित और संगठित रूप से लड़ने लगीं।

क्रांतिकारी रूस ने 3 मार्च, 1918 को जर्मनी के साथ ब्रेस्ट-लिटोवस्क (Brest-Litovsk) की सन्धि करली जिसके अनुसार वह बाल्टिक के सूबे और पौलैंड सहित अपने सभी सूबे जर्मनी को देकर युद्ध से अलग हो गया। पूर्वी मोर्चे पर राहत मिल जाने से जर्मनी ने अपनी सारी शक्ति पश्चिमी मोर्चे पर लगा दी। मित्र-राष्ट्रों के लिए यह स्थिति बहुत ही संकटपूर्ण थी, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा उनके पक्ष में युद्ध में शामिल हो जाने से सन्तुलन नहीं बिगड़ पाया। जर्मनी द्वारा पण्डुब्बियों के अनियन्त्रित दुरुपयोग के विरोध में ही मुख्यतः अमेरिका युद्ध में कूदा था।

अब केन्द्रीय शक्तियों की स्थिति तेजी से बिगड़ने लगी। मार्शल फौच के अधीन मित्र-राष्ट्रीय सेनाओं के संचालन में समन्वय स्थापित हुआ। एक साथ कई स्थानों पर लड़ाई छेड़ दी ताकि शत्रु-सेनाएं किसी एक स्थान पर अपनी शक्ति केन्द्रित नहीं कर सकें। मार्शल फौच ने जर्मनों को मार्न से और ब्रिटिश फौजों ने उन्हें अमीन से खदेड़ दिया। जर्मनी की हिण्डेन्बर्ग पंक्ति पर भयंकर हमले किये जाने लगे। पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही मोर्चों पर मित्र-राष्ट्रों को सफलता मिलती गई। 29 सितम्बर, 1918 को बल्गेरिया ने आत्म-समर्पण कर दिया। 31 अक्टूबर, 1918 को टर्की ने हथियार डाल दिये। आस्ट्रिया इटली के हाथों पिट

3 नवम्बर, 1918 को उसने घुटने टेक दिये और 11 नवम्बर को आस्ट्रियन सम्राट ने राजसिंहासन छोड़ दिया। इस प्रकार पूर्वी मोर्चे पर जर्मन गुट पूरी तरह पराजित हुआ। पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी ने युद्ध जारी रखा, पर उसकी कमर टूट चुकी थी। 30 सितम्बर, 1918 को जर्मन जनरल लडेनडर्फ ने जर्मन सम्राट कैसर को मित्र-राष्ट्रों के साथ शान्ति कर लेने की सलाह दी। 6 अक्टूबर, 1918 को जर्मनी ने शान्ति की अपील की। 5 नवम्बर, 1918 को मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। 11 नवम्बर, 1918 को युद्ध विराम सन्धि पर जर्मन प्रतिनिधियों तथा मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के जनरल मार्शल फौच द्वारा हस्ताक्षर कर दिये जाने पर 11 बजे दिन में युद्ध बन्द की घोषणा करदी गई।

जर्मनी में विद्रोह और सम्राट कैसर विलियम द्वितीय का पलायन

11 नवम्बर को युद्ध विराम होने से पूर्व ही जर्मनी में सम्राट कैसर विलियम द्वितीय के विरुद्ध क्रान्ति हो गई। 28 अक्टूबर को कील (Keil) स्थित जर्मन ाल-सेना ने विद्रोह कर दिया जिससे सम्पूर्ण जर्मनी में सम्राट के विरुद्ध क्रान्ति का विस्फोट हो गया। सम्राट कैसर विलियम द्वितीय हॉलेण्ड भाग गया। जर्मन रियासतों ने अपने अलग-अलग गणतन्त्रों की स्थापना करली। बर्लिन में एक नई सरकार बनी जिसने मित्र-राष्ट्रों से 11 नवम्बर को युद्ध-विराम समझौता किया।

पेरिस-सम्मेलन और शान्ति-समझौता

युद्ध-विराम के बाद शान्ति की व्यवस्था किस प्रकार हो? यह एक बड़ा प्रश्न-चिन्ह था। स्थायी शान्ति-व्यवस्था करने का काम युद्ध के संचालन की अपेक्षा कहीं कठिन था। इस उद्देश्य से जनवरी, 1919 में मित्र-राष्ट्रों ने पेरिस में एक विशाल सम्मेलन का आयोजन किया और उसी के तत्वावधान में शान्ति-सन्धियां की। जहां युद्ध सवा चार वर्षों में समाप्त हुआ था वहां विभिन्न देशों के साथ शान्ति-सन्धियां करने में पांच वर्ष का समय लगा। मित्र और संयुक्त राष्ट्रों ने 28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ वर्साय (Versailles) की सन्धि, 10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेन्ट-जर्मेन (St. Germain) की सन्धि, 27 नवम्बर, 1919 में बल्गेरिया के साथ न्यूइली (Neuilly) की सन्धि, 4 जून, 1920 को हंगरी के साथ ट्रियनो (Trianon) की सन्धि, 10 अगस्त, 1920 को टर्की के साथ सेव्र (Sevres) की सन्धि तथा 23 जुलाई, 1923 को लोसाने (Lausanne) की सन्धि सम्पन्न की। यह सन्धि 6 अगस्त, 1924 को अमल में आयी और उसके बाद ही सारे संसार में पुनः विधिवत् शांति स्थापित हो सकी। इसी बीच प्रशान्त महासागर में हित रखने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन 1921–22 के शीतकाल में वाशिंगटन में हो चुका था। इस सम्मेलन में आने वाले राष्ट्रों ने सुदूरपूर्व में शान्ति स्थापित रखने के लिये कुछ संधियां की। 1919 में की गई वर्साय की सन्धि से लेकर बाद में की गई उपरोक्त सभी सन्धियां अपने संयुक्त रूप में "शांति-समझौता" (Peace

Settlement) कहलाती हैं। 1919 के बाद 20 वर्ष तक अर्थात् प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ काल के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर जितनी भी महत्वपूर्ण घटनाएं घटित हुईं, उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन शांति-सन्धियों के साथ गहरा सम्बन्ध रहा।

इन सन्धियों को सम्पन्न करने का प्रधान श्रेय पेरिस शान्ति-सम्मेलन (Peace Conference) को था जिसमें केवल मित्र-राष्ट्रों को ही आमंत्रित किया गया। जो राष्ट्र इस युद्ध में पराजित हुए थे, उन्हें नहीं बुलाया गया। उनकी केवल उसी समय जरूरत समझी गयी जब शांति-सन्धियों पर हस्ताक्षर कराने का अवसर आया। सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन (Plenary Session) 18 जनवरी, 1919 को प्रारम्भ हुआ। इसमें भाग लेने के लिए 12 राज्यों के 70 प्रमुख प्रतिनिधि आये जिनमें विश्व के विशिष्ट राजनीतिज्ञ तो थे ही, साथ ही स्वयं अमेरिकन राष्ट्रपति, 11 प्रधानमंत्री और 12 विदेशमंत्री भी थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के साथ अनेक सचिव, सहायक और परामर्शदाता भेजे थे। अनेक प्रतिनिधि-मण्डलों की सदस्य संख्या सैकडों की थी, जिनमें सुशिक्षित कूटनीतिज्ञ, सैनिक, नौसैनिक, नागरिक-प्रशासनकर्ता, विधि-विशेषज्ञ, वित्त और आर्थिक-विशेषज्ञ, श्रमिक नेता, राज्यमंत्री, संसद-सदस्य और सभी प्रकार के पत्रकार तथा प्रचारक थे।

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने "युद्धों को समाप्त करने के लिए लड़े जाने वाले युद्ध" के बाद विभिन्न सन्धियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया, लेकिन मानव-जाति का यह दुर्भाग्य था कि यूरोप का राजनीतिक वातावरण निरन्तर क्षुब्ध होता गया, राष्ट्रीय विद्वेष की अग्नि सुलगती रही, अल्प-संख्यकों के हितों के लिए की गई सन्धियों की शर्तों के प्रति कोई वचन नहीं निभाया गया और अन्ततः 1939 में संसार को एक दूसरा महायुद्ध देखना पड़ा। पेरिस की शान्ति-सन्धियां असफल इसलिए रहीं कि प्रथम तो सम्बन्धित पक्षों ने सन्धि की शर्तों के पालन का उत्तरदायित्व नहीं निभाया; द्वितीय फ्रांस में क्लेमेंसो सरकार का पतन हो गया और उग्रवादी पोआन्कार-सरकार सत्तारूढ़ हुई जिसने प्रारम्भ से ही ऐसी नीति पर चलने का ध्येय अपनाया जिसके फलस्वरूप सन्धि की शर्तें बेकार हो जायें और फ्रांस को खुल कर जर्मनी से बदला लेने का मौका मिले। वास्तव में फ्रांस की राजनीति में पोआन्कारे का पुनः प्रवेश यूरोप के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में शान्ति-सन्धियों से अमेरिका का सम्बन्ध-विच्छेद भी बड़ा सांघातिक सिद्ध हुआ। सन्धियों को संसार के एक महानतम् देश के समर्थन से वंचित हो जाना पड़ा और उनको कार्यान्वित करने का भार केवल उन्हीं लोगों पर रह गया जो प्रतिशोध की आग में जल रहे थे। यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि यदि सन्धि की शर्तों का पालन सभी पक्षों की ओर से होता तो पेरिस की शान्ति-सन्धियों की वह दुर्दशा नहीं होती जो बाद में हुई।

प्रथम महायुद्ध के परिणाम

प्रथम महायुद्ध लगभग सवा चार वर्ष चला। इस युद्ध के जो घातक परिणाम हुये, उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये परिणाम इस प्रकार प्रकट हुये—

(1) आर्थिक और नैतिक विनाश—इस युद्ध से धन-जन की अपार क्षति हुई। हर ओर आर्थिक असन्तुलन पैदा हुआ। सर्वत्र अनैतिक उथल-पुथल हो गई। जीवन के प्राचीन आदर्श अपने महत्व को खो बैठे। नवीन भौतिक और स्वार्थी प्रतीकों की स्थापना हुई। अनेक यूरोपीय देशों में पुरुषों की कमी हो गई। इस तरह जन-शक्ति की भारी क्षति हुई। फसलें मारी गईं। रेल मार्ग छिन्न-भिन्न कर दिये गये। जमीन वियावान हो गई। खेतों की उर्वराशक्ति को भारी नुकसान पहुंचा। कारखाने, मकानों आदि का महाविनाश हुआ। उभयपक्ष ने युद्ध के संचालन में 2 खरब 70 अरब डालर व्यय किये। इस धन-हानि की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि 35 करोड़ व्यक्तियों में इस धन-राशि का विभाजन किया जाता तो प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में लगभग पौने चार हजार रुपये आते।

(2) मानव जीवन का विनाश—विश्व-इतिहास के इस भयानकतम् युद्ध में भाग लेने वाले दोनों पक्षों के साढ़े छः करोड़ सैनिकों में से 1 करोड़ 30 लाख काल का ग्रास बने। इस प्रकार प्रति पांच सैनिकों में से लगभग एक सैनिक लड़ते हुए मारा गया। घायल सैनिकों की संख्या 2 करोड़ 20 लाख थी जिनमें से 70 लाख व्यक्ति तो एकदम पंगु और बेकार हो गये। दूसरे शब्दों में प्रति तीन सैनिकों में से एक आहत हुआ। हताहतों की यह संख्या यूरोप में 1790 ई० से 1913 ई० तक होने वाले सभी छोटे-मोटे युद्धों के हताहतों की संख्या के दुगुने से भी अधिक थी। सैनिकों का तो यह भीषण नर-संहार हुआ ही किन्तु नागरिक जन-संख्या का विनाश तो इससे भी कहीं अधिक हुआ। वास्तव में अपनी विकरालता और नृशंसता की तुलना में इस महायुद्ध ने इतिहास के सभी पूर्ववर्ती युद्धों को बच्चों की पटाखेबाजी की तरह नगण्य बना दिया।

(3) आर्थिक संगठन को आघात—हर देश की उत्पादन शक्ति युद्ध कार्यों में लगा दी गई। फलस्वरूप विश्व के आर्थिक संगठन को भारी धक्का लगा। शान्ति स्थापना के बाद लोगों के पुनर्वास की समस्या आ खड़ी हुई। विस्थापितों को रोजी देने का प्रश्न उठा। वस्तुओं के मूल्य आकाश छूने लगे।

(4) लोकतन्त्रीय शासनों की स्थापना—यूरोप की राजनीति में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्र शासन का अन्त होकर लोकतन्त्रीय शासनों की स्थापना हुई। मध्य यूरोप में पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, लिथुआनिया, इस्टोनिया और फिनलैन्ड के जिन नये राज्यों का उदय हुआ, वे सभी गणतन्त्र थे। जर्मनी और आस्ट्रिया में तथा लैटविया और युक्रेनिया में भी गणतन्त्र शासन कायम हुए।

यूरोप में एक तरह से गणतन्त्रों की बाढ़ सी आ गई। यूरोप के बाहर एशिया और अफ्रीका में भी गणतन्त्रों की स्थापना हुई।

(5) उदारतावाद को आघात—युद्ध के पहले यूरोप का प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्त उदारतावाद का था। युद्ध के बाद गेथार्न हार्डी (Gathorn Hardy) के शब्दों में "उदारतावाद अपनी मृत्यु-शैय्या पर सो गया।" उदारतावाद के सिद्धान्तों से सहानुभूति रखते हुए भी इंगलैण्ड के अधिकांश व्यक्तियों ने निर्वाचन में उदार-दल (Liberal Party) के पक्ष में मतदान इसलिए नहीं किया क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया कि उदार-दल को दिया जाने वाला मत एक शव को दिया गया मत होगा। न केवल इंगलैण्ड में बल्कि यूरोप के अन्य भागों में इसी प्रकार की मनोवृत्ति पनपने लगी। अब अधिकांश लोग समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए।

(6) बेकारी का प्रसार—युद्ध ने चारों ओर बेकारों की एक विशाल फौज खड़ी करदी। भयंकर बेकारी ने बड़ी संख्या में लोगों के जीवन को निराशा में परिणित कर दिया। परिणामस्वरूप एक ऐसा वातावरण बना जिसने उदारतावाद और प्रजातन्त्र को डगमगा दिया।

(7) अधिनायकतन्त्र का उदय—लोकतन्त्रवाद का विकास होने के साथ ही अधिनायकतन्त्र का उदय भी हुआ। इटली, स्पेन और जर्मनी में एक वर्ग-विशेष अथवा दल-विशेष का शासन स्थापित हुआ।

(8) राजनीतिक मानचित्र में परिवर्तन—युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व यूरोप में ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस और इटली छः महान राष्ट्र थे किन्तु शांति-समझौते के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया और हंगरी एक तरह से लुप्त हो गये। जर्मनी और रूस शान्त पड़ गये। इटली भी महत्वहीन देश हो गया। स्वतन्त्र पोलैण्ड की स्थापना हुई। बाल्टिक में एस्टोनियां, लेटविया, लिथुआनिया और फिनलैण्ड जैसे छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। जर्मनी से अलग आस्ट्रिया एक छोटा सा राज्य हो गया। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के विनाश के परिणामस्वरूप अनेक नये तथा नये बढ़े हुए राज्यों का निर्माण हुआ। चेकोस्लोवाकिया एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया। सर्विया जिसका अब नया नाम युगोस्लाविया हो गया था, बहुत बढ़ा हुआ राज्य हो गया। रूमानिया का राज्य क्षेत्र भी पर्याप्त रूप से बढ़ गया। इस युद्ध ने बहुत से राजतन्त्रों को भी समाप्त किया।

(9) नारी मताधिकार के पक्ष में वातावरण—युद्ध-काल में स्त्रियों का सराहनीय योगदान रहा था, अतः युद्धोपरान्त नारी-मताधिकार के प्रति सहानुभूति-पूर्ण वातावरण व्याप्त हो गया।

(10) विश्व राजनीति में मजदूर-वर्ग का पदार्पण—युद्ध-काल में औद्योगीकरण की प्रगति के बहुत तीव्र हो जाने से विश्व राजनीति में प्रगतिशील मजदूर-वर्ग का उदय हुआ। रूस में 1917 की क्रान्ति के बाद मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व हुआ। यहां से साम्यवाद का विचार सारे संसार में फैलने लगा। शीघ्र ही साम्यवाद का विचार और श्रमिक वर्ग अत्यन्त बलवान अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति बन गये।

(11) शक्ति सन्तुलन का स्थानान्तरण—युद्ध के वाद वड़े परिणाम में संसार के शक्ति संतुलन का स्थानान्तरण हो गया। विभिन्न देशों के सापेक्षिक महत्व में निश्चित परिवर्तन हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका, जो 19वीं सदी में यूरोप का अन्न भंडार था, अव उसका महाजन वन गया। 1914 में वह यूरोप का ऋणी देश था, 1919 में वह उसका ऋणदाता वन गया। विश्व-नेतृत्व के क्षेत्र में उसने ब्रिटेन को गम्भीर चुनौती दी। युद्ध के वाद अमेरिका ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(12) साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन—इस युद्ध से साम्राज्यवाद को भी काफी वढ़ावा मिला। फ्रांस और इंगलैंड का मध्य-पूर्व में अपना प्रभाव-क्षेत्र काफी जम गया। जापान एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उदित हुआ। आगे चलकर उसके साम्राज्यवाद को तो जैसे पंख लग गये।

(13) राष्ट्रीयता को वल—इस युद्ध से राष्ट्रीयता को वल मिला। रूमन, यूगोस्लाव आदि देशों को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मिला। अरवों में स्वतन्त्रता के लिए नया उत्साह जगा। भारत में भी स्वतन्त्रता आन्दोलन ने नया जोर पकड़ा।

(14) चिकित्सा क्षेत्र और विज्ञान की उन्नति—प्रत्येक वड़े युद्ध के समय उसमें लगे हुए राष्ट्र अपनी सारी वुद्धि उस युद्ध को जीतने में लगा देते हैं। इससे कई आश्चर्यजनक आविष्कार हो जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय भी यही हुआ। यह युद्ध केमिस्टों का युद्ध कहा गया, जिसमें तरह–तरह की जहरीली गैसों का प्रयोग हुआ। कई अच्छी दवाइयां भी वन गयीं। संसार में खून देने और शल्य–चिकित्सा सम्वन्धी कई प्रयोग हुए। नये पोषक तत्वों का आविष्कार हुआ। जीतने के लिए वैज्ञानिकों ने नये आविष्कार किये। विज्ञान के हर क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई।

(15) सैनिकवाद में वृद्धि—युद्ध के वाद निःशस्त्रीकरण की दिशा में कुछ प्रयत्न हुए, पर उनसे सैनिक वृद्धि रुक न सकी। उल्टे यूरोप के प्रायः सभी देश अपनी-अपनी सैनिक शक्ति वढ़ाने में जुट गए। सेनाओं को वढ़ाने और युद्ध-सामग्री में वृद्धि करने की होड़ सी लग गई। शस्त्रीकरण की यह होड़ यूरोप और विश्व को दूसरे महायुद्ध की ओर धकेलने लगी।

निःसंदेह प्रथम महायुद्ध के साथ एक युग की समाप्ति हो गई। 1918 की विराम-संधि से दुनियां ने राहत की सांस ली, पर किसे मालुम था कि सिर्फ 21 वर्षों के वाद पहले से भी अधिक विनाशकारी दूसरा महायुद्ध होने वाला था।

Appendix A

महत्वपूर्ण घटनायें

1870	: फ्रेन्च सम्राट नैपोलियन तृतीय का पलायन।
1871	: जर्मन सम्राट विलियम प्रथम का गद्दी पर बैठना (जनवरी), नवीन जर्मन-साम्राज्य की घोषणा (जनवरी) एवं नये राज्य के नए विधान को मान्यता (अप्रेल)।
1871	: फ्रेंकफुर्ट की सन्धि (मई)।
1871	: पैरिस में खूनी सप्ताह (मई)।
1871	: त्रि-राज्य (जर्मनी, आस्ट्रिया एवं रूस) या तीन सम्राटों के संघ का निर्माण।
1872–76	: मई कानून अथवा फाक कानून।
1873	: रूस-जर्मनी में गुप्त सैनिक सन्धि।
1873	: फ्रेंच राष्ट्रपति तियरे का त्याग-पत्र (मई)।
1875	: फ्रांस के तृतीय गणतन्त्र की स्थापना (जनवरी)।
1875	: एबीसीनिया के बन्दरगाह मसोआ पर इटली का अधिकार।
1878	: रूस-टर्की के बीच सानस्टेफानों की सन्धि (मार्च)।
1878	: तेरहवें लियो का पोप बनना एवं पोप-बिस्मार्क समझौता।
1878	: बर्लिन-सम्मेलन की सन्धि (जुलाई)।
1879	: फ्रेन्च राष्ट्रपति मेकमोहन का त्याग-पत्र (जनवरी)।
1879	: जर्मनी और आस्ट्रिया में पारस्परिक सुरक्षा-सन्धि।
1880	: फ्रांस की राजधानी का वर्साय से पैरिस स्थानान्तरण।
1881	: जार एलेक्जेण्डर द्वितीय की हत्या (मार्च), एलेक्जेण्डर तृतीय का जार बनना।
1881	: जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस में बर्लिन की सन्धि तथा तीन सम्राटों के संघ को पुनर्जीवन।
1881	: फ्रांस का ट्यूनीसिया पर अधिकार।
1882	: आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली के त्रिगुट की
1883	: आस्ट्रिया तथा रूमानिया के बीच सन्धि।

1883	: फ्रेंच शासन के गणतन्त्रवादी रूप में संशोधन न करने सम्बन्धी कानून का निर्माण।
1884	: फ्रांस में राज-परिवार का सदस्य या सम्बन्धी राष्ट्रपति न बने--इस बारे में कानून का निर्माण।
1884	: बर्लिन में रूस के साथ पुनराश्वासन सन्धि।
1885	: पूर्वी रोमेलिया में रक्तहीन राज्य क्रान्ति।
1886	: फ्रांस में बुलेंगिस्ट आन्दोलन का आरम्भ।
1886	: एडोआ के युद्ध में इटली की हार।
1886	: बल्गेरिया और सर्विया के बीच सन्धि।
1888	: जर्मन सम्राट विलियम प्रथम की मृत्यु और फ्रेडरिक तृतीय का गद्दी पर बैठना।
1888	: फ्रेडरिक तृतीय की मृत्यु और सम्राट कैसर विलियम द्वितीय का सिंहासनारोहण।
1890	: बिस्मार्क का त्याग-पत्र।
1891	: विद्रोही बुलेंगर (फ्रांस) द्वारा आत्म-हत्या।
1893	: फ्रांस-रूस (द्विगुट) मैत्री (दिसम्बर)।
1894	: फ्रांस में ड्रेफस काण्ड का प्रारम्भ।
1894	: जार एलेक्जेण्डर तृतीय की मृत्यु और निकोलस द्वितीय का जार बनना।
1898	: इटली-फ्रांस के बीच सन्धि।
1900	: राजा 'हम्बर्ट' (इटली) की हत्या।
1901	: फ्रांस का संघ-कानून।
1904	: जापान द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा (फरवरी)।
1904	: फ्रांस तथा इंगलैंड में कोर्डियल समझौता।
1905	: जापान-रूस के बीच पोर्टसमाउथ की संधि।
1905	: जार के महल के सामने निहत्थे मजदूरों को गोलियों से भूनना (खूनी रविवार)।
1906	: फ्रांस में ड्रेफस को निर्दोष घोषित करना।
1906	: रूस की प्रथम ड्यूमा का चुनाव।
1906	: स्पेन में अल्जेसिरास-सम्मेलन।
1907	: रूस का कोर्डियल समझौते में शामिल होना तथा फ्रांस, रूस और इंगलैण्ड के दूसरे त्रिगुट की स्थापना।
1907	: इंगलैण्ड और रूस में संधि।
1907	: रूस की द्वितीय और तृतीय ड्यूमा का चुनाव।
1908	: नवयुवक तुर्कों की क्रान्ति।

1909	: इटली–रूस समझौता।
1912	: ट्रिपोली पर इटली का कब्जा।
1912	: रूस में चौथी ड्यूमा का चुनाव।
1913	: क्रीट का यूनान में मिलन।
1912–13	: प्रथम बाल्कान युद्ध।
1913	: लन्दन संधि (मई)।
1913	: द्वितीय बाल्कान युद्ध तथा बुखारेस्ट की संधि।
1914	: आस्ट्रिया के युवराज की हत्या (28 जून)।
1914	: प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ (28 जुलाई)।
1915	: इटली का मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में प्रवेश (मई)।
1917	: रूस की क्रान्ति और वोल्शेविक शासन की स्थापना।
1918	: राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्र (जनवरी), रूस की जर्मनी से सन्धि (मार्च)।
1918	: जर्मनी से युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर (11 नवम्बर)।
1919	: पैरिस-सम्मेलन और शांति समझौते की सन्धियां, जर्मनी के साथ वर्साय की संधि (28 जून), आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मेन की संधि (10 सितम्बर), बल्गेरिया के साथ न्यूइली की संधि (27 नवम्बर)।

Appendix B

EXERCISES

जर्मन साम्राज्य (1871–1914)

1. "1871 से 1890 की अवधि में विस्मार्क वास्तव में महान् साहस, महान् शक्ति, महान् उत्साह, महान् धैर्य और असीम स्वेच्छाचारिता का सजीव प्रतीक बना रहा।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?
2. 1871 के बाद विस्मार्क की नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।
3. राजनीति के क्षेत्र में विस्मार्क के कार्यों का उल्लेख कीजिये।
4. 'जर्मनी में समाजवाद और विस्मार्क'—इस शीर्षक पर संक्षेप में अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. विस्मार्क की अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति की कमजोरियों को स्पष्ट कीजिए साथ ही विस्मार्क के चरित्र और व्यक्तित्व पर भी संक्षेप में प्रकाश डालिए।
6. 1871 के पश्चात जर्मनी की आन्तरिक समस्याओं का समाधान विस्मार्क द्वारा किस प्रकार किया गया ?
7. सेडान (Sedan) के पश्चात् विस्मार्क ने आस्ट्रिया के प्रति उदारता की नीति क्यों अपनाई ?
8. विस्मार्क की औपनिवेशिक नीति और परिणामों का वर्णन करिए।
9. 'वह एक ऐसा वाजीगर था जो उन पांच गेंदों की वाजीगरी दिखा सकता था जिनमें से दो गेंद हमेशा हवा में उछलती थीं।'
   दूसरे यूरोपीय शक्तियों के साथ विस्मार्क के सम्बन्धों का विवरण देते हुए उक्त कथन की विवेचना कीजिए।
10. केसर विलियम द्वितीय के शासन काल में जर्मनी के आन्तरिक विकास पर प्रकाश डालिए।
11. केसर विलियम द्वितीय की विदेश नीति के कौन-कौन से मुख्य लक्षण थे ? उसे प्रथम महायुद्ध के लिए कहां तक उत्तरदायी माना जा सकता है ?

फ्रांस (1871–1914) एवं इंगलैण्ड (1871–1914)

1. उन विभिन्न समस्याओं का वर्णन कीजिए जिनका 1871 के बाद फांस को सामना करना पड़ा ? उसने उनका सामना किस प्रकार किया ?
2. ड्रेफस (Dreyfus) के राजनीतिक महत्व की विवेचना कीजिए।

3. तृतीय गणराज्य के शासन-काल में फ्रांस में चर्च और राज्य की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन कीजिए। किस प्रकार दोनों के बीच एक दूसरे से पृथक्करण किया गया ?
4. सन् 1871 से 1914 तक फ्रांस की औपनिवेशिक नीति की व्याख्या कीजिए।
5. फ्रांस और रूस के मध्य जिन परिस्थितियों में द्विगुट सन्धि हुई उनका वर्णन कीजिए। इस संधि के क्या कारण थे ?
6. 19वीं शताब्दी में इंगलैंड और फ्रांस की प्रतिद्वन्द्विता के कारणों का वर्णन कीजिए। अन्त में 'आतांत कोरडियल' (Entente Cordiale) की स्थापना किस प्रकार हुई ?
7. सन् 1871 से 1914 तक के काल में इंगलैंड की विदेश-नीति की समीक्षा कीजिए।
8. 1904 में होने वाली आंग्ल-फ्रांसीसी संधि का वर्णन कीजिए। इस संधि के सम्पन्न होने के कारणों को बतलाइए। इसके महत्व और परिणाम पर प्रकाश डालिये।
9. 1907 के आंग्ल-रूसी समझौते की पृष्ठभूमि बतलाते हुए उसके महत्व और परिणामों पर प्रकाश डालिए।
10. 1871 से 1914 तक की अवधि में फ्रांस द्वारा गृह-नीति एवं पर-राष्ट्र नीति के क्षेत्र में प्राप्त की गई सफलताओं की विवेचना कीजिए।
11. तृतीय गणराज्य की स्थापना के बाद फ्रांस में व्यवस्था एवं शांति की स्थापना किस प्रकार की गई ?
12. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये--
    (क) द्वि-राष्ट्रीय मित्रता
    (ख) त्रि-राष्ट्रीय समझौता (Triple Entente)
    (ग) ड्रेफस का मामला (Dreyfus' Case)

रूस (1871-1919)

1. रूस के जार अलेक्जेण्डर तृतीय तथा जार निकोलस द्वितीय के शासन-काल में घटित प्रमुख घटनाओं का विवरण दीजिये।
2. 'निहिलिजम' (Nihilism) के विषय में आप क्या जानते हैं ? विस्तार से लिखिये।
3. 1871 से 1850 के बीच जर्मनी और रूस के आपसी सम्बन्धों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
4. रूस के जार अलेक्जेण्डर द्वितीय के शासन-काल की मुख्य घटनाओं को संक्षेप में बतलाइये।
5. रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय के लिए उत्तरदायी घटनाओं का विवरण दीजिये और पराजय के परिणामों पर प्रकाश डालिये।

6. 'रूस-जापान युद्ध ने रूस, जापान, चीन, एवं यूरोप पर अपना प्रभाव डाला था।' इस कथन की परीक्षा कीजिये।
7. 1877 के रूस-टर्की युद्ध का विवरण दीजिये और बतलाइये कि किस प्रकार बर्लिन कांग्रेस द्वारा सान स्टफानों (San Stefano) की शर्तें पलट दी गई।
8. 1870 से 1914 तक की रूस की विदेश-नीति का उल्लेख कीजिये।
9. जार निकोलस द्वितीय के शासन-काल की घटनाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिये। वह अपनी विदेश नीति में कहां तक सफल रहा?
10. 1905 के रूस-जापान युद्ध के कारणों की समीक्षा कीजिये और उसके परिणाम बताइये।
11. 'रूस-जापान युद्ध विश्व-इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।' विवेचना कीजिये।
12. 1917 की बोलशेविक क्रांति के कार्यों और परिणामों को स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

इटली (1871–1914)

1. इटली के समक्ष सन् 1871 से प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक जो समस्यायें आयीं उनका उल्लेख कीजिये। इन समस्याओं के समाधान में उसे कहां तक सफलता मिली।
2. सन् 1871 से 1915 तक इटली की विदेश-नीति क्या रही? विवेचनात्मक रूप से प्रकाश डालिये।
3. 1871 से 1914 तक इटली के आन्तरिक एवं वैदेशिक विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

पूर्वी समस्या और बर्लिन व्यवस्था

1. पूर्वी समस्या की सन् 1857 से 1878 तक की प्रमुख घटनाओं को संक्षेप में व्याख्या कीजिये।
2. सानस्टेफानों की संधि और बर्लिन कांग्रेस का बीजारोपण करने वाली घटनाओं पर प्रकाश डालिये।
3. सन् 1875 में बाल्कान देश में उत्पन्न संकट के लिए उत्तरदायी घटनाओं का वर्णन कीजिए और यह भी बतलाइये कि उन्हें दूर करने के लिए यूरोपीय शक्तियों ने क्या किया?
4. सन् 1877–1878 के रूस-टर्की युद्ध का विवरण दीजिए और सानस्टेफानो की संधि की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
5. "सन् 1878 की बर्लिन संधि मात्र एक समझौता थी। अन्य समझौतों की भांति उसमें भी भावी संकटों के बीज निहित थे।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6. यह कथन कहां तक सत्य है कि सन् 1878 की बर्लिन-संधि ही प्रथम महायुद्ध के लिए उत्तरदायी थी?
7. 'डिजरैली द्वारा बर्लिन-कांग्रेस में अपनाई गई नीति ने ही सन् 1912 और 1913 के बाल्कान युद्ध और सन् 1914 के विश्व-युद्ध के अधिकांश कारणों को जन्म दिया।' विवेचना कीजिए।

8. पूर्वी रोमेलिया और बल्गेरिया के एकीकरण पर प्रकाश डालिए।
9. 'पूर्वी समस्या ने सन् 1908 की ग्रीष्म ऋतु में एक सर्वथा नवीन एवं विस्मयजनक स्थिति ग्रहण की।' इस संदर्भ में सन् 1908 से 1914 तक की स्थिति की सविस्तार विवेचना कीजिए।
10. बाल्कान-संघ के निर्माण में क्या-क्या बाधायें थीं ? प्रथम महायुद्ध तक इन बाधाओं को किस प्रकार और कहां तक दूर किया गया ?
11. बल्कान-युद्धों का वर्णन करते हुए उनके परिणामों पर प्रकाश डालिए।
12. बोसेनियां के संकट पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

साम्राज्यवाद एवं औपनिवेशिक विस्तार

1. 19वीं सदी की अन्तिम चौथाई के बाद में यूरोप में साम्राज्यवाद का पुनरुत्थान किन कारणों से हुआ ?
2. औपनिवेशिक विस्तार से आप क्या समझते हैं ? 19वीं सदी के साम्राज्यवाद के नाम से उसके पुनरुत्थान का वर्णन करें।
3. 19वीं सदी में यूरोपीय शक्तियों के बीच अफ्रीका के बंटवारे का वर्णन करें।
4. 'अफ्रीका का विभाजन (सन् 1876 से 1914 तक) एक असाधारण घटना है।' व्याख्या कीजिए।
5. 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किस तरह हुआ ?
6. मिस्र और सूडान पर अंग्रेजों की अधिकार-स्थापना की गाथा का वर्णन कीजिए।
7. फ्रांस के समुद्र-पार साम्राज्य के विस्तार का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
8. 19वीं शताब्दी में साम्राज्यवादी देशों द्वारा चीन की लूट-खसोट का संक्षेप में चित्रण कीजिए।

शस्त्रीकरण की होड़ (1871–1914)

1. ऐंग्लो जर्मन नौ-सेना प्रतियोगिता का वर्णन कीजिए।
2. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि 19वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हथियारों की जो होड़ चली वह प्रथम महायुद्ध का कारण बनी ?
3. दोनों हेग सम्मेलनों की पृष्ठभूमि और उनकी उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

प्रथम महायुद्ध (1914–1918)

1. सन् 1914 के महायुद्ध से पूर्व यूरोपीय महान्–शक्तियों के राजनीतिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।
2. सन् 1914 से 1918 के प्रथम महायुद्ध के कारणों का उल्लेख कीजिए। इस युद्ध के लिए जर्मनी कहां तक उत्तरदायी था ?
3. प्रथम महायुद्ध के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिणामों को बतलाइए।
4. 'प्रथम महायुद्ध उन दो यूरोपीय गुटों की शक्ति का प्रदर्शन–मात्र था, जो अपनी ताकत आजमाने के लिए बेताब थे।' इस कथन के सत्य पर प्रकाश डालिए।
5. यूरोप के प्रमुख राज्यों की प्रथम महायुद्ध से पूर्व की राजनीतिक दशा का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

Appendix C

SUGGESTED READINGS

1. Bismarck : Reflections and Reminiscences.
2. Bulow : Imperial Germany.
3. Clarke, C. W. : Franz Joseph and Bismark.
4. Cambridge Modern History, Vol. XII.
5. Carr, E. H. : The Bolshevik Revolution (1917–23)
6. Davis, W. S. : A Short History of the Near East.
7. Dickinson, G. Lowes : The International Anarchy (1904-14) 1926.
8. Gooch, C. P. : History of Modern Europe (1878–1919).
9. Grant and Temperley : Europe in the Nintsenth and Twentieth Centuries.
10. Hazen : Europe since 1815.
11. Hazen : Modern European History.
12. Hearnshaw : Main Currents of European History.
13. Ketelbey : A History of Modern Times.
14. Lipson : Europe in the 19th and 20th Centuries.
15. Marriot, J. A. R. : The Eastern Question.
16. Miller, W. : The Ottoman Empire and its Successors, 1934.
17. Mowat : Contemporary Europe and Overseas.
18. Prothero : German Policy before the War.
19. Palmer : A History of the Modern World.
20. Phillips : Modern Europe.
21. Rose : Development of European Nations.
22. Schmitt : England and Germany.
23 Seignobos, C : A History of the French People.
24. Skrine : Expansion of Russia.
25. Spender, J. A. : Fifty Years of Europe, 1936.
26. Taylor, A.J.P. : The Struggle for Mastery in Europe, 1958.
27. Wright : The Downfall.
28. Wallace : Russia.
29. Wolff : The Eve of 1914.

R